नई समाजवादी क्रान्ति का उदघोषक

बिगुल

मासिक समाचार पत्र • वर्ष 2 • अंक 5-6
जून-जुलाई 2000 • तीन रुपये • बारह पृष्ठ

आपातकाल के पच्चीस वर्ष बाद अघोषित आपातकाल जैसी स्थिति

संशोधित टाडा (सी.एल.ए.) बिल के बहाने

जीने के अधिकार पर एक और हमला

सम्पादकीय अग्रलेख

इन दिनों, पूरे देश में, विशेषतया मीडिया और सरकारी, तंत्र में आपातकाल के पच्चीस वर्ष पूरा होने पर जोर-शोर से चर्चा हो रही है! एक ऐसे समय में, जबकि **भारतीय अर्थतंत्र के गहराते संकट से उपजे राजनीतिक संकट के परिणामस्वरूप सत्ता का चरित्र निरंकुश होता जा रहा है, काले कानूनों की श्रृंखला लम्बी होती जा रही है और हर वर्ष हड़तालों-संघर्षों को कुचलने, पुलिस दमन और फर्जी मुठभेड़ों की संख्या बढ़ती जा रही है।** आपात काल के बाद से अघोषित आपातकाल की स्थिति लगातार न केवल बरकरार है बल्कि और खतरनाक रूप में सामने आ चुकी है। **आपातकाल की त्रासदी की चर्चा के बीच बेहद खतरनाक संशोधित टाडा कानून, क्रिमनल लॉ अमेंडमेंट बिल (सी.एल.ए.) पारित करने की पूरी तैयारी हो चुकी है।**

उदारीकरण के वर्तमान दौर में ज़ारी आम जनविरोधी नीतियों के लागू होने के विगत एक दशक के दौरान जनता की तबाही और बर्बादी लगातार बढ़ती जा रही है। निजीकरण-छंटनी-तालाबन्दी ने भारी पैमाने पर लोगों को सड़कों पर ढकेल दिया है। तबाह होती खेती से लोग अपने जगह जमीन से उजड़ते जा रहे हैं। महंगाई लगातार अपने सारे रिकार्ड तोड़ती जा रही है और शिक्षा-चिकित्सा जैसी बुनियादी चीजें भी अब पूरी तरह बिकाऊ माल बन चुकी है। ऐसे विकट संकट के दौर में लोगों के जनाक्रोश फूटने की संभावना से ग्रसित सत्ताधारियों द्वारा उसे कुचलने की सारी तैयारियां पूरी की जा रही हैं। चाहे संविधान समीक्षा की बात हो अथवा सी.एल.ए. कानून पारित करने का सवाल, सब वर्तमान मानवद्रोही व्यवस्था को **"कानून सम्मत"** ढालने का ही प्रयास है।

यूं तो सत्ता में आने के तुरन्त बाद से ही आज़ाद भारत की सरकार ने अनेक रूपों में जनता के मूलभूत अधिकारों का अपहरण शुरू कर दिया था, पर अपहरण की इस कार्रवाई का दमनात्मक स्वरूप इतना नग्न नहीं था। तेलंगाना के किसान संघर्ष को कुचलने में और छठे दशक में मजदूरों के हड़तालों को दबाने में नेहरू सरकार ने भी कोई रू-रियायत नहीं बरती थी। नक्सलवाड़ी के किसान आन्दोलन को कुचलने के लिए दमन के नये कीर्तिमान स्थापित हुए थे।

व्यवस्था के बढ़ते संकट और व्यापक जनाक्रोश के गहराते जाने के साथ ही, विशेषतया सातवें दशक के उत्तरार्ध से सत्ता का दमनकारी स्वरूप ज्यादा से ज्यादा उजागर होता चला गया। जून 1975 में आपातकाल लागू किया जाना इस प्रक्रिया की चरम परिणति थी। आपातकाल के 19 महीने निरंकुश तानाशाही की लंबी काली रात की तरह गुज़री। 42 वें संविधान-संशोधन द्वारा जीने के अधिकार तक को छीना जा चुका था। प्रेस-सेन्सरशिप से लेकर अन्य अनेक दमनकारी उपायों से अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता छीनी जा चुकी थी। 'मीसा' जैसा कुख्यात काला कानून नागरिक आज़ादी एवं जनतांत्रिक अधिकार की खुलेआम धज्जियां उड़ा रहा था।

जनता के व्याप्त गुस्से को चुनावी सिक्के में ढालकर 1977 में सत्तानसीन जनता पार्टी सरकार ने अपने छोटे से शासन काल में पंतनगर से लेकर बेलछी, बेलाडीला और स्वदेशी कॉटन मिल तक मज़दूरों-किसानों के कत्लेआम की नई मिसालें कायम की, 'मीसा' की जगह 'मिनी मीसा' लागू हुआ।

(पेज 12 पर जारी)

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग तक ने प्रस्तावित नये टाडा कानून को पूरी तरह खारिज करते हुए कहा कि देश में मौजूदा कानून ही काफी सशक्त हैं, किसी नये कानून की जरूरत नहीं है, बावजूद इसके नया कांनून लागू होगा ही। दरअसल, तमाम कालेकानूनों के पीछे सरकार की मंशा है कि जैसे ही कोई आन्दोलन "खतरनाक" लगे, उसे अपने सभी हरबा-हथियार के खुले खेल के द्वारा कुचल डाला जाये।

किसान अब गुर्दा बेचने को मज़बूर

मानवद्रोही पूंजीवादी व्यवस्था के निरंकुश और निर्मम खूनी पंजे आम मेहनतकश अवाम को इस हद तक ज़कड़ चुके है कि उन्हें जीने के लिए अपना गुर्दा तक बेचना पड़ रहा है। आंध्रप्रदेश के सौ से ज्यादा, कर्ज के बोझ से लदे गरीब किसानो के गुर्दा बेचने की घटना भले ही संवेदनशून्य सत्ताधारियों के लिए सामान्य खबर हो, लेकिन बहुतायत आम जनता के लिए यह हिला देने वाली घटना है।

जब एक तरफ हैदराबाद अधुनातन तकनीकी शब्दावली विश्व के महाबली नेता के भाषणों से बलबला रहा था, उसी समय आन्ध्र के किसानों के समक्ष पूंजीवाद के सेवक विज्ञान का जन-विरोधी चेहरा और भी घिनौने रूप में सामने आया। **इस प्रदेश के कर्ज में डूबे हुए किसानों से कर्ज की वसूली को सम्भव बनाने के लिये विज्ञान के एक और टहलुए चिकित्सक परिदृश्य पर बौद्धिक वेश्यावृत्ति करते नजर आए। इन चिकित्सकों की मदद से केवल गुंटूर जिले के रेन्टाचिन्टाल गांव के 26 किसानों ने अपने गुर्दे एक ऐसे व्यक्ति**

(पेज 10 पर जारी)

भीतर के पृष्ठों पर

भारत में क्रांतिकारी वामपंथी आन्दोलन पर बहस 5
चीनी क्रान्ति की सचित्रकथा : (भाग पांच) 6
मजदूरों की स्थिति पर रिपोर्ट 3
[illegible] असंगठित मजदूरों की बढ़ती तबाही 3
बीमा का निजीकरण और ट्रेड यूनियन की भूमिका 4
प्रेमचन्द के जन्मदिवस पर उनका एक प्रासंगिक लेख 11
केदारनाथ अग्रवाल को श्रद्धांजलि और उनकी कुछ कविताएं 11
आत्महत्या की जगह इस हत्यारी व्यवस्था को खत्म करो 11
मालिकों के आतंकराज से मजदूरों में आक्रोश 12

चिकित्सा के भी बाजारीकरण ने साबित कर दिया है कि

राज कर रहे कफनखसोट-मुर्दाखोर

मुकुल श्रीवास्तव

देशी-विदेशी पूंजीवादी लुटेरों की सेवा में बदहवास राजग सरकार ने जहां एक तरफ मेहनतकश ग़रीब आबादी को रसातल में धकेलने वाली "कठोर" नीतिया को लागू करने का क्रम तेज़ कर दिया है, वहीं वह शिक्षा और चिकित्सा जैसी प्राप्त कुछ बुनियादी सहूलियतें भी आम जनता से छीन कर **इसे** अमीरजादों की बपौती बनाती जा रही है।

अभी-अभी अपने एक ताजा निर्णय के तहत उत्तर प्रदेश की राज्य सरकार ने जहां सरकारी अस्पतालों के शुल्क में भारी वृद्धि और इसे 10 प्रतिशत प्रतिवर्ष के दर से बढ़ाते रहने का निर्णय लिया है, वहीं केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्री डा. सी.पी. ठाकुर ने देश के प्रमुख सरकारी अस्पतालों को एयर इण्डियां की तर्ज पर निजीकरण करने की नीति का खुलासा करके एक बार फिर यही साबित किया है कि हमारे ऊपर शासन करने वाले कफन खसोट-मुर्दाखोर हैं।

राज्य सरकार ने विगत 30 जून की रात्रि में जारी एक शासनादेश के जरिये बढ़ी चिकित्सा दरों को एक जुलाई से लागू भी कर दिया। उधर केन्द्र सरकार ने भी स्वास्थ्य सेवाओं में निजी क्षेत्र को व्यापक रूप से शामिल करने के लिए दिल्ली के इंद्रप्रस्थ अपोलो अस्पताल के तर्ज पर देश के विभिन्न जिलों में नये अस्पताल खोलने का निर्णय लिया है जिसमें 50 फीसदी भागीदारी निजी कम्पनियों की होगी। उल्लेखनीय है कि आधुनिक सुविधाओं से सज्जित इस बेहद महंगे अपोलो अस्पताल में ग़रीबों का पहुंचना एक ख्वाब है। यहां गरीबों के लिए आरक्षित बिस्तरे तक चिकित्सा खर्च बचाने के मकसद से खाली ही रखे जाते हैं।

चिकित्सा शुल्क में भारी वृद्धि

सरकार द्वारा चिकित्सा के बाज़ारीकरण के लिए यह तर्क दिया जा रहा है कि अधिकतर राज्य विकास कार्यों के लिए आवंटित धन अपने कर्मचारियों को वेतन देने में खर्च कर देते हैं और इस कारण दवाइयों और उपकरणों के लिए उनके पास कुछ भी नहीं बचता। अब केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्री का दावा है कि निजीकरण से अस्पतालों की स्थिति में सुधार होने के साथ ही ग्रामीण क्षेत्रों के

(पृष्ठ 10 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

आपस की बात

बिगुल को नियमित करें तथा खतों के जवाब भी छापें

'बिगुल' में अक्सर पाठकों के खत प्रकाशित होते रहते हैं, मगर संपादक मंडल की ओर से इन खतों के जवाब नहीं दिये जाते। इससे खत लिखने वालों को पता ही नहीं चलता कि आप लोग उनके सवालों, सुझावों के बारे में क्या सोचते हैं? मेरी राय है कि सभी खतों के जवाब भी 'बिगुल' में जरूर दिये जाने चाहिए। और इन जवाबों के जरिये पाठकों को लगातार खत लिखते रहने के लिए उत्साहित किया जाना चाहिए। 'बिगुल' के वितरक साथियों को भी 'बिगुल' के पाठकों को इस बात के लिए उत्साहित करना चाहिए कि वे अखबार में लगातार पत्र-व्यवहार करें।

'बिगुल' को नियमित करने की कोशिश कीजिए। 'बिगुल' को हर महीने के पहले हफ्ते में ही पाठकों के हाथों में पहुंचाने का प्रयास करना चाहिए, क्योंकि 'बिगुल' के संजीदा पाठकों के लिए इसका इंतजार करना काफी कठिन काम है।

'बिगुल' के इसी अंक में 'वर्कर्स सौलिडेरिटी' नामक ग्रुप का पर्चा "आपके अधिकार क्या हैं?" छापा गया है, जिससे श्रमिकों के कानूनी अधिकारों के बारे में काफी जानकारी मिली। ऐसी जानकारी मज़दूरों के बीच क्रांतिकारी काम करने वाले कार्यकर्ताओं के लिए काफी उपयोगी है। 'बिगुल' के माध्यम से समय-समय पर ऐसी जानकारी देते रहना चाहिए।

सुखदेव
लुधियाना (पंजाब)

शोषण के खिलाफ बिगुल आवश्यक

मार्च-अप्रैल 2000 का संयुक्तांक 'बिगुल' प्राप्त हुआ। वैसे भी हमेशा समय पर 'बिगुल' मिलता रहा है। वाकई शोषण के खिलाफ इस बिगुल की आवश्यकता थी ही और अपना काम व्यवस्थित तरीके से यह कर रहा है। अपने उद्देश्य को लेकर नियमित निकालना बहुत बड़ा काम है जो आप कर रहे हैं। रचना स्तरीय है।

विजय लक्ष्मी
388, राधिका विहार
मथुरा-281004

क्रांतिकारी लक्ष्य वाले बिगुल के लिए बधाई

'बिगुल' की अप्रैल-मई 2000 की प्रति पढ़ने को मिली। जिस समाजवादी क्रान्ति को लक्ष्य बनाकर यह पत्र प्रकाशित किया जा रहा है, उसके लिए बधाई। यह पत्र सी.पी.आई. या सी.पी.एम. का नहीं हो सकता, फिर किस संगठन का है? पत्र के 2-3 अंक भेजने की कृपा करें। मैं भी ग्राहक बन सकता हूं। क्या आप मेरे लेख भी प्रकाशित कर सकेंगे। हां, वे समाजवादी क्रान्ति से ही सम्बन्धित होंगे। कृपा कर पत्रोत्तर शीघ्र दें। कहीं अन्य नेताओं की भांति आप भी बहुत व्यस्त न हों।

– हरनारायण शर्मा
संगम बिहार कालोनी
नन्दनपुरा, झांसी

गोरखपुर यांत्रिक रेल कारखाना में 524 पदों को समाप्त किये जाने के प्रस्ताव के खिलाफ आक्रोश

गोरखपुर। (बिगुल संवाददाता)। यांत्रिक रेल कारखाना में ग्रुप सी एवं डी के कुल 524 पदों को समाप्त करने के रेल प्रशासन के प्रस्ताव के खिलाफ कारखाने के कर्मचारियों में बेहद आक्रोश है। कर्मचारियों की विभिन्न यूनियनों ने रेल प्रशासन की इस मंशा के खिलाफ आन्दोलन चलाने की घोषणा की है।

गोरखपुर का यह यांत्रिक रेल कारखाना 1903 में स्थापित हुआ था। उत्तर प्रदेश व बिहार के लगभग 10 हजार लोगों को इस रेल कारखाने में नौकरी मिली है। लेकिन, उदारीकरण-निजीकरण की मौजूदा नीतियों की मार से धीरे-धीरे इस कारखाने को पूर्ण बन्दी की ओर ठेला जा रहा है। इससे हजारों परिवारों के सामने भुखमरी के हालात पैदा हो सकते हैं।

मुख्य कारखाना प्रबन्धक ने लगभग एक महीना पहले ग्रुप सी एवं डी के 524 पदों को समाप्त करने का प्रस्ताव रेलवे बोर्ड को भेजा है, जिसे लेकर कर्मचारियों में सुगबुगाहट है। लेकिन निजीकरण-उदारीकरण की नीतियों एवं पांचवें वेतन आयोग की सिफारिशों के खिलाफ रेलवे की स्थापित ट्रेड यूनियनों ने जिस बेमन से लड़ाई लड़ी है और मजदूरों-कर्मचारियों के साथ जो विश्वासघात किया है, उसे देखते हुए कोई प्रभावी आन्दोलन संगठित हो पायेगा, इसकी संभावना कम ही दिखती है।

हालांकि, जिस तरह कारखाने को धीरे-धीरे बन्द करने की दिशा में धकेला जा रहा है, उसके खिलाफ यदि आम कर्मचारियों-मजदूरों के बीच व्यापक प्रचार-प्रसार कर गोलबन्द किया जाये तो एक गम्भीर आन्दोलन की भूमिका तैयार हो सकती है।

कारखाने की हालत यह है कि कारखाना कर्मियों की संख्या पिछले कई वर्षों से धीरे-धीरे घटाई जा रही है। पदोन्नति पर भी अघोषित रोक लगी हुई है। जबकि कारखाने का आउट टर्न पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत हर वर्ष 25 यूनिट बी.जी. कोचों की मरम्मत का है एवं लक्ष्य 300 यूनिट तक का है। इस हिसाब से हर साल कर्मचारियों की संख्या बढ़ायी जानी चाहिए थी। लेकिन हो रहा है उल्टा।

एक रेल यूनियन द्वारा पिछले दिनों जारी किये गये एक आंकड़े के अनुसार 1978-1979 से 1998-1999 के पिछले बीस वर्षों में जहां ग्रुप सी एवं डी कर्मचारियों की संख्या भारतीय रेल में 17.65 लाख से घटकर 15.79 लाख हो गयी, यानी 10.5 प्रतिशत की कमी हो गयी, वहीं अफसरों की संख्या 9931 से बढ़कर 14100 हो गयी है, यानी 41.98 की बढ़ोत्तरी। यह रेल प्रशासन की कर्मचारी विरोधी नीतियों एवं अफसरशाही की बढ़ती जकड़न को ही दिखाता है।

आज यदि एक सही-सक्षम नेतृत्व हो तो यांत्रिक कारखाना कर्मियों के आक्रोश को संगठित रूप देकर रेल प्रशासन के सामने एक गम्भीर चुनौती उपस्थित हो सकती है। क्या कारखाने के जागरूक, ईमानदार, बहादुर कर्मी इस दिशा में कोई पहल लेंगे?

बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियां

1. 'बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मजदूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मजदूर आंदोलन के इतिहास और सबक से मजदूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूंजीवादी अफवाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मजदूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मजदूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'बिगुल' मजदूर वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूंजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनबाजों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की कतारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'बिगुल' मजदूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

यूनियनों को नयी क्रान्तिकारी धार दी जाये

बिगुल अखबार हमें प्राप्त हुआ। जिसे पढ़कर हमें अहसास हुआ कि आज ऐसे क्रांतिकारी मजदूर अखबार की बहुत जरूरत है। आज हमारे संगठन भी लगातार कमजोर होते जा रहे हैं। और मजदूर आंदोलन भी कमजोर ही दिखता है? ऐसे में हमारे मजदूर साथी भी यूनियन में कम रूचि ही रखने लगे हैं। जिसका पूरा फायदा कारखाना मालिक वर्ग उठा रहा है। मजदूरों से उनके सारे अधिकारों को छीना जा रहा है। श्रम कानूनों को बदल कर भी सरकार ने उन्हें बेअसर बना दिया है।

मालिक अब मनमाने तरीके से काम कराने, जब चाहे तब बाहर करने और बेकारी होने के बावजूद काम के घंटे 8 से बढ़ाकर 12 से 14 तक कर दिया है। इतना ही नहीं अब स्थायी मजदूरों को न रखकर, उनकी जगह पर सीधे ठेकेदारी प्रथा में काम करवाना शुरू कर दिया है। मजदूरों को तनख्वाह मात्र जिन्दा रहने भर से ज्यादा नहीं दी जा रही है।

हमारी यूनियनों के अन्दर प्रतिनिधियों का चुनाव हर वर्ष जनवादी तरीके से नहीं होता है। मजदूर प्रतिनिधि व्यक्तिगत फायदे उठाने, मजदूरों के साथ नौकरशाहना व्यवहार करने और मजदूरों को लगातार जागरूक करने व उनके संघर्षों को व्यापक करने की जगह अवसरवादी तरीके अख्तियार करते हैं। यहीं पर मजदूरों का असन्तोष दूसरी यूनियन को जन्म देता है। मजदूर आपस में बंट जाते हैं और उनकी ताकत कमजोर हो जाती है। ऐसी स्थिति में मालिक हमेशा उन्हें आपस में लड़ाकर फायदा उठाते रहते हैं। फिर मजदूर यूनियन किसी काम की नहीं रह जाती है।

आज देश और समाज के जो हालात बन रहे हैं और जिस तरीके से मजदूर विरोधी नीतियां हमारे ऊपर थोपी जा रही हैं वैसे हालात में हमें एक बार फिर से नए संघर्षों की तैयारी में जुट जाना होगा। यूनियनों में क्रांतिकारी धार पैदा करनी होगी। हर मेहनत करने वाला एक है, चाहें वह स्थायी हो, अस्थायी हो या ठेकेदारी का, चाहे छोटे कारखाने का हो अथवा बड़े कारखाने का या अन्य कामों में लगा हो।

इसलिए आज जरूरत इस बात की है कि मेहनतकश साथियों को सरकार व पूंजीपतियों के हमलों के खिलाफ एकजुट किया जाये। यूनियनों को नयी क्रांतिकारी धार दी जाये। मात्र एक ही कारखाने तक सीमित रखकर नहीं बल्कि मेहनतकशों की व्यापक क्रांतिकारी एकता कायम की जाये। तभी मेहनतकश बेहतर जिन्दगी हासिल करने के संघर्ष को करते हुए पूंजीपति वर्ग से पूर्ण मुक्ति के संघर्ष के साथ खुद को जोड़ पायेंगे।

क्रांतिकारी अभिवादन के साथ
– मजदूर, यूनिवर्सल ग्लास लि.,
साईड-4, साहिबाबाद

बिगुल यहां से प्राप्त करें

• शहीद पुस्तकालय, जनगण होम्यो सेवा सदन, **मर्यादपुर**, मऊ • मौर्या बुक स्टाल, सआदतपुरा (निकट रोडवेज), मऊनाथभंजन, **मऊ** • जनचेतना, जाफरा बाजार, **गोरखपुर** • विजय इन्फारमेशन सेन्टर, कचहरी बस स्टेशन, **गोरखपुर** • विश्वनाथ मिश्र, नेशनल पी.जी. कालेज, **बड़हलगंज**, गोरखपुर • ओमप्रकाश, 69, बाबा का पुरवा (पुराना), पेपर मिल रोड, निशातगंज, **लखनऊ** • जनचेतना स्टाल, काफी हाउस के पास, हजरतगंज, **लखनऊ**, (शाम 5 से 8·30) • राहुल फाउण्डेशन, 3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, **लखनऊ** • विमल कुमार, बुक स्टाल, निकट नीलगिरि काम्प्लेक्स, ए ब्लाक, इंदिरानगर, **लखनऊ** • विजय कुमार, 55/3, ई.डब्ल्यू.एस., आवास विकास कालोनी, **रुद्रपुर** (ऊधमसिंहनगर) • रामपाल सिंह, भारतीय जीवन बीमा निगम, आवास विकास, **रुद्रपुर** (ऊधमसिंहनगर) • रवीन्द्र कुमार, भारतीय जीवन बीमा निगम, शाखा कार्यालय, पन्तनगर • कृष्णगोविन्द सिंह, बी-18, बिड़ला छात्रावास, बी.एच.यू. **वाराणसी** • प्रोग्रेसिव बुक सेंटर, विश्वनाथ मंदिर गेट, बी.एच.यू. **वाराणसी** • राजीव वर्मा द्वारा डा. जे.पी. वर्मा, बी.पी. 82, पटेलनगर, **मुगलसराय**, वाराणसी • राजेन्द्र प्रसाद, रेणु मेडिकल की गली, मुख्य सड़क, **रेणुकूट**, सोनभद्र • सत्यम वर्मा, 81, समाचार अपार्टमेंट, मयूर विहार-एक, **नई दिल्ली** • ललित सती, भारतीय जीवन बीमा निगम • डी. के. सचान, कृषि विज्ञान केंद्र, कलक्ट्रेट, **गाजियाबाद** • सुनील कुमार सिंह, सेक्टर-12 बी, 3159, बोकारो इस्पातनगर, **बोकारो** • गणपतलाल, ग्राम काजी रसूलपुर, पो. तेघड़ा, **बेगूसराय** • पीपुल्स बुक हाउस, पटना कालेज के सामने, **पटना** • समकालीन प्रकाशन (प्रा.) लि. पुस्तक बिक्री केन्द्र, आजाद मार्केट, पीरमुहानी, **पटना** • विकल्प सांस्कृतिक मोर्चा, 22, स्वस्तिक काम्प्लेक्स, नेपियर टाउन, **जबलपुर** • नरभिन्दर सिंह, द्वारा डा. सुखदेव हुन्दल, ग्रा/पो. **सन्तनगर**, जिला-सिरसा • राकेश गोरखा, सरस्वती पुस्तक मंदिर, प्रधान नगर, सिलीगुड़ी, **दार्जीलिंग** • बुक मार्क, 6, बंकिम चटर्जी स्ट्रीट, **कलकत्ता** • शर्मा बुक स्टाल, थाना रोड, चराली, तिनसुकिया

नेपाल • विश्व नेपाली पुस्तक सदन, श्रवनपथ, बुटवल, रुपनदेई, नेपाल ,

मुनाफाखोरों की नज़र में एक मजदूर की जिन्दगी कीड़ों-मकोड़ों से अधिक कुछ भी नहीं

लुधियाना (बिगुल संवाददाता)। लुधियाना पंजाब का सबसे बड़ा औद्योगिक केन्द्र है। यहां हजारों छोटी-बड़ी फैक्टरियों में लाखों मजदूर काम करते हैं, जिनमें से अधिकांश प्रवासी हैं। अपना खून-पसीना बहाकर पंजाब की खुशहाली में इजाफा करने वाले ये मजदूर खुद पशुओं से भी बदतर जिन्दगी जीने को मजबूर हैं।

ये प्रवासी मजदूर पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार से हर साल लाखों की तादाद में रोजी-रोटी की तलाश में पंजाब आते हैं। इनमें से बहुतेरे तो पंजाब के ही वासी बन गये हैं। पंजाब की फैक्टरियों और खेतों में ज्यादातर काम इन प्रवासी मजदूरों के ही दम पर होता है। लेकिन इनको बहुत ही कम मजदूरी पर दिन रात काम करना पड़ता है। बर्बर शोषण, उत्पीड़न और नस्ली नफ़रत के अलावा उन्हें मालिकों के जुल्म को भी सहना पड़ रहा है। मालिकों द्वारा उन्हें किस हद तक जुल्म का शिकार बनाया जाता है, इसका उदाहरण है पिछले दिनों हुई एक मजदूर की मौत!

लुधियाना स्थित कल्याण एग्रो-इण्डस्ट्री कारपोरेशन के मालिक सुनील अग्रवाल एवं मैनेजर वी.काईद ने एक पुरबिया मजदूर को जबर्दस्ती काम पर लगाया। यह जानते हुए भी कि वह मजदूर बीमार है और काम नहीं कर सकता, उसको जबर्दस्ती ट्रक से सरिया उतारने पर मजबूर किया गया। मालिकों के हुक्म के बोझ तले मजदूर काम करता रहा। सरिया उतारते समय अचानक पेट में सरिया की चोट लग जाने से इस मजदूर की तत्काल मौत हो गयी। लेकिन पत्थर दिल मालिक इससे भी नहीं पसीजे। उन्होंने अन्य मजदूरों को उस मजदूर की लाश उठाकर कहीं फेंक देने का हुक्म दिया, जैसे कि वह इन्सान न होकर कोई कीड़ा-मकोड़ा हो।

घटना की खबर मिलने पर भले ही पुलिस ने मालिक और मैनेजर पर केस दर्ज कर लिया है। मगर सभी जानते हैं कि मालिकों का इससे बाल भी बांका न होगा। वे पैसे के जोर से साफ बच निकलेंगे और मजदूरों को इसी तरह अपने जुल्म का शिकार बनाते रहेंगे।

मेहनतकश भाइयों को यह चीज गांठ बांध लेनी होगी कि जुल्मों का यह सिलसिला तब तक चलता रहेगा तब तक वे खुद संगठित होकर इन जालिमों को सजा देने के लिए उठ खड़े नहीं होते। हर तरह के शोषण और जोरो-जुल्म से मुक्ति पाने के लिए मजदूरों को इन जालिम मालिकों और उनकी पोषक इस अमानवीय पूंजीवादी व्यवस्था को बदलने के लिए फैसलाकुन लड़ाई लड़नी होगी।

देहाती असंगठित मजदूरों की बढ़ती तबाही

मर्यादपुर, मऊ। देहात के असंगठित मजदूरों के लिए मजदूरी पर जिन्दा रहने की सारी सम्भावनाएं अब धीरे-धीरे खत्म होती जा रही है। खेती के काम में लगातार नये-नये उपकरणों का इस्तेमाल होने के चलते खेतिहर मजदूरों को काम मिलना अब मुश्किल होता जा रहा है।

पहले इन मजदूरों को साल में सात-आठ महीने खेती से सम्बन्धित काम मिल जाया करता था। लेकिन, आजकल खरपतवार नाशक रसायनों, रासायनिक खादों, ट्रैक्टरों, ट्यूबवेलों, हार्वेस्टरों, थ्रेशरों आदि नये-नये कृषि उपकरणों के आ जाने से बेहद मुश्किल से साल में एक या डेढ़ महीने ही काम मिल पा रहा है। इस पर भी मजदूरी की दर 25 या 30 रुपये प्रतिदिन से अधिक नहीं है जबकि खेतों में 12 से 14 घण्टे तक काम करना पड़ता है। यह मुसीबत इसलिए और भी बढ़ जाती है कि जो थोड़ा बहुत काम मिलता भी है, वह ज्यादातर मध्यम किसानों के यहां ही मिलता है जो खुद ही आज पूंजीवादी खेती के कारण तंगहाल और तबाह है। खाद, बीज, जोताई, बोवाई, सिंचाई, मंड़ाई आदि के महंगाई से मध्यम किसानों की कमर भी टूटी जा रही है।

ईंट भट्ठों पर काम करने वाले असंगठित मजदूरों की तबाही भी अपनी आखिरी हदों की ओर बढ़ती जा रही है। पथेरा, ईंट पकाने वाले रेज़ा, कुली, मिस्त्री, गदहों से ईंट ढोने वाले धोबी, ट्रैक्टर चालक, मुनीम आदि भट्ठे पर काम करने वाले मेहनतकशों की प्रतिदिन की मजदूरी आज के बाजार भाव को देखते हुए अब उन्हें जिन्दा रखने में सक्षम नहीं हो पा रही है। हाड़तोड़ मेहनत करने के बावजूद भी उन्हें अपने परिवार का पेट पालने भर की मजदूरी नहीं मिल पा रही है। बीमार होने या कोई दुर्घटना हो जाने पर इनको पूछने वाला कोई नहीं है। इस क्षेत्र में ईंट भट्ठा मजदूरों का कोई संगठन अभी नहीं बन सका है, इसलिए वे चुपचाप ईंट भट्ठा मालिकों के शोषण-उत्पीड़न एवं जोरों-जुल्म को सहने पर मजबूर हैं।

रिक्शा-ठेला खींचने वाले मजदूरों की हालत भी कम शोचनीय नहीं है। दिन भर काम की ठोह में अपने रिक्शों-ठेलों को इधर से उधर दौड़ाते फिरते हैं। बड़ी मुश्किल से दो-चार सवारी, दो-चार माल ढोने को मिल पाता है। देहात में शहरों की बनिस्बत कम मजदूरी मिलती है। रिक्शा-ठेला खींचने वाले ये मजदूर इस कमरतोड़ महंगाई के जमाने में अपने परिवार का गुजर-बसर कितनी मुश्किल से कर पाते हैं इसका अन्दाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि वे बाजार में सब्जी तब खरीदते हैं, जब बाजार उठने लगता है ताकि बची-खुची सब्जी कुछ सस्ती मिल जाये। दाल, मछली, गोश्त तो कभी-कभार होली-दीवाली, ईद-बकरीद पर ही पक पाता है।

मर्यादपुर जैसे छोटे बाजारों में कुछ संख्या मोटियों (पल्लेदारों) की है। ऐसी हर एक चट्टी (बाजार) पर ये 4,6,8, की तादाद में मिल जायेंगे। ये बाजार में सीमेण्ट से लेकर लोहे की रॉड, बालू, गिट्टी, गल्ला, सब्जी और अन्य अनेक बाजार में आने और बाजार से जाने वाले सामानों को उतारते और लादते हैं। इनकी भी हालत रिक्शा-ठेला मजदूरों से भिन्न नहीं है। असंगठित होने के नाते कभी-कभी इनकी मजदूरी भी मार ली जाती है।

होटलों एवं चाय की दुकानों पर काम करने वाले कुछ असंगठित मजदूर हर चट्टी पर मिल जायेंगे। इनमें बच्चे काफी तादाद में होते हैं। इनकी भी हालत अन्य असंगठित मजदूरों जैसी ही है। चाशनी में जरा सी गड़बड़ी हुई कि होटल मालिक ने मिस्त्री जी को दुकान से बाहर निकाल दिया।रात में नींद न पूरी होने से सुस्त पड़े बैरा बच्चे से एक गिलास फूटा नहीं कि उसे थप्पड़ मारकर विदा कर दिया। साथ में महीनों की मजदूरी भी गई। अपमान की जिन्दगी बिता रहे ये मजदूर जायें तो कहां जायें?

●हरिहर

(अगले अंक में जारी)

(अगले अंक में पढ़िये इस क्षेत्र के हजारों मछुआरों की जिन्दगी की तबाही के बारे में)

मुनाफे की हवस ने एक गांव को मरघट बना डाला

मिदनापुर जिले (पश्चिम बंगाल) का एक गांव चिंचुरघेरिया इस बात का एक जीता-जागता सबूत है कि मुनाफे की हवस कैसे-कैसे मंजर दिखा सकती है। इस गांव में एक भी ऐसा घर नहीं जिसने कम से कम बेवक्त और दर्दनाक मौत न देखी हो। इस गांव के अधिकांश घरों में कम से कम एक सदस्य सिलकोसिस से पीड़ित हैं, जो सुप्रीम कोर्ट के हुक्म से मिलने वाले मुआवजे के इन्तजार में बस सांसें गिन रहे हैं।

जिस सुरेन्द्रा खनिज फैक्ट्री को अपने गांव में स्थापित होता देख गांव वालों ने अपने सौभाग्य पर खुशियां मनायी होंगी, वही उनके लिए भीमी मौत का कारण बन गयी। अपनी मुनाफाखोरी की हवस में मालिकान ने औद्योगिक प्रदूषण से बचाव के लिए एक पाई खर्च करना फिजूलखर्ची समझा और नतीजा पूरा गांव एक मरघट में तब्दील। जो किसी तरह बचे भी हैं वे चलती-फिरती लाशों से अधिक नहीं हैं।

झारग्राम रेलवे स्टेशन से चिंचुरघेरिया गांव का पैदल सफर एक घण्टे का है। गांव में दाखिल होते ही सुरेन्द्रा खनिज की बन्द पड़ी इमारत और टूटी हुई चारदीवारी नजर आती है। इसके आसपास कूड़े-करकट के भारी-भरकम ढेर पड़े हुए हैं।

सुरेन्द्रा खनिज फैक्ट्री में रेत के पत्थरों को तोड़कर पीसा जाता था और इससे बना चूना हुगली की ग्लास फैक्ट्री और मुम्बई की कुछ ग्लास फैक्ट्रियों में भी भेजा जाता था।

इस फैक्ट्री में उत्पादन की प्रक्रिया सरल किन्तु बेहद खतरनाक थी। पत्थर के ढेलों को फैक्ट्री के गेट के सामने लगी मशीन पर तोड़ा जाता था। इसके टुकड़ों को सिर पर उठाकर फैक्ट्री के अन्दर लगी पिसाई की मशीन पर ले जाया जाता था। इसके बाद पाउडर को छानकर बोरों में भरा जाता था और ट्रकों पर लादकर बाहर भेजा जाता था।

शुरू में कोई नहीं जानता था कि सुरेन्द्रा खनिज के मजदूरों के साथ क्या हो रहा है। पहली मौत 1991 में हुई। तब से जो सिलसिला शुरू हुआ वह आज तक जारी है। 1992 के अन्त तक कम से कम 10 मजदूर मर चुके थे। पत्थरों को तोडने, पीसने, पाउडर को छानने, बोरों में भरकर ट्रकों पर लादने की समूची प्रक्रिया के दौरान उड़ने वाली धूल-गर्द मजदूरों के फेफड़ों में जमा होता रहती थी। नतीजतन वे बुखार, खांसी और दमा के शिकार होते रहे। यही चीज जानलेवा बन गयी। पिछले दस वर्षों में सारा गांव ही लगभग तबाह हो चुका है और आज यह अपना वजूद बचाने के लिए आखिरी लड़ाई लड़ रहा है।

नीचे हैं इस तबाही के कुछ बयान, जिन्हें 'बिगुल' के पन्नों पर उतारना इस संवाददाता के लिए आग के दरिया से गुजरने के बराबर है।

गांव के मातल हांसदा की एक लड़की और लड़का जो इस फैक्ट्री में काम करते थे, सिलकोसिस से मर चुके हैं। उसका अकेला जीवित बचा बेटा भी फैक्ट्री में काम करता था। वह भी सिलकोसिस से पीड़ित है।

65 वर्षीय हांसदा ने बताया, "लड़की पहले मरी। उसने तीन साल से भी ज्यादा समय वहां काम किया। उसे खांसी एवं दमा हो गया। उसकी भूख कम होती गयी। एक बार हम उसे डाक्टर के पास ले गये, लेकिन कोई लाभ न हुआ। फिर उसकी आवाज बन्द हो गयी और भयानक पीड़ा से उसकी मौत हो गयी।"

हांसदा का बेटा दो साल बाद मरा। भयानक गरीबी के हाथों मजबूर वह अपने बेटे को बचाने के लिए कुछ न कर सका।

सीता मुरमु का पति और देवर दोनों मर चुके हैं। वह कहती है, "मेरे पति और देवर ने चार साल फैक्ट्री में काम किया और तब वह बीमार पड़ गया। .... लोग कहते हैं कि मुआवजा मिलेगा पर कौन जाने कब?"

कानाई सोरेन को भी फैक्ट्री निगल गयी। उसकी विधवा करु मुनी अपने दो बेटों और बेटियों के साथ जीने के लिए जूझ रही है। खेत मजदूर होने के नाते उसे साल में चार या पांच महीने ही काम मिलता है। रोते हुए उसने कहा, "मैं अपने बच्चों को चावल का मांड़ पीने के लिए मजबूर करती हूं, ताकि उनकी भूख मिट सके और वे भोजन के लिए न रोयें।"

कानाई मुरमु 1991 में मरने वाले पहले मजदूरों में से थी। उसकी 35 वर्षीय विधवा बासो किसी तरह अपने दो बेटों और दो बेटियों को पाल रही है....। बासो का कहना है, "....जब हमारे गांव में फैक्ट्री खुली थी तब हमें किसी ने नहीं बताया कि हम मरने जा रहे हैं। फैक्ट्री में लोग अपनी रोटी कमाने जाते हैं। अगर लोगों को फैक्ट्री में काम करके मरना ही है तो ऐसे काम से क्या फायदा?"

पासर्रा एक और आदिवासी गांव है, जहां के मजदूर सुरेन्द्रा खनिज में काम करने आते थे। यहां संथाल आदिवासियों के 100 से अधिक घर हैं। उनके पास जमीन नहीं है। वे फैक्टरियों में, भट्ठियों एवं अन्य सरकारी स्कीमों में काम करते हैं। इस गांव का निवासी सुनील नामक मजदूर भी सुरेन्द्रा खनिज का शिकार हुआ। वह आज सिर्फ मौत का इन्तजार कर रहा है। वह 1992 से ही सिलकोसिस से पीड़ित है। उसका शरीर अब हड्डियों का एक ढांचा भर रह गया है।

सुनील ने कुछ दवाइयां ली थीं, पर कमजोर शरीर और खाली पेट पर उसका कोई असर नहीं होता। जो भी उसके पास जाता है सुनील उसी से मदद मांगता है। वह अच्छी तरह से सांस तक नहीं ले पाता। उसका कहना है: "मेरे घर में भोजन नहीं है। मैंने कई दिनों से पेट पर खाना नहीं खाया। मैंने अपने भोजन और इलाज के लिए अपनी सारी जमीन बेच दी है। अब मैं क्या करूंगा?"सुनील चाहता है कि फैक्टरी मालिक को सजा मिले। वह कहता है, "हमारी सारी दुख-तकलीफों का जिम्मेवार मालिक है उसे भी मेरी तरह पीड़ा होनी चाहिए।"

लोकिन, शायद सुनील और उस जैसे अभागे लोग नहीं जानते कि बद्दुआओं से मुनाफाखोरों की सेहत पर कोई फर्क नहीं पड़ने वाला। क्योंकि, कोर्ट-कचहरी-कानून, अफसर, नेता सब उनकी मर्जी के आगे सीस नवाते हैं। सवाल एक-दो मालिकों का नहीं है। जब तक यह समूचा ताना-बाना ध्वस्त नहीं होगा, मुनाफाखोर भेड़िये अपना शिकार करते रहेंगे।

●मुकुल शर्मा

(फ्रंटलाइन, 12 मई 2000 में छपी रिपोर्ट के आधार पर)

बीमा का निजीकरण और ट्रेड यूनियन की भूमिका : एक बहस

यूनियनें मजदूरों की मानसिक तौर पर पराजय बोध बढ़ा रही हैं

बोमाकर्मी एवं बिगुल से जुड़े साथी ललित सती के 'बिगुल' (नवम्बर-दिसम्बर' 99) में प्रकाशित लेख "अंततोगत्वा बीमा विधेयक संसद में पारित" लेख पर हमने पिछले अंक में बोमाकर्मी साथी मनोज कुमार गुप्त की प्रतिक्रिया और लेखक का जवाब प्रकाशित किया था इसी सन्दर्भ में हमें एक और प्रतिक्रिया प्राप्त हुई हैं, जिसे हम यहां पर प्रकाशित कर रहे हैं। (*सम्पादक*)

'बिगुल' के नवम्बर-दिसम्बर '99 के अंक में प्रकाशित साथी ललित सती का लेख "अनततोगत्वा बीमा विध यक संसद में पारित " पढ़ा था, मई 2000 के अंक में उस पर साथी मनोज कुमार गुप्ता की प्रतिक्रिया एवं इस प्रतिक्रिया पर ललित सती का पुन: स्पष्टीकरण भी पढ़ा। एक आम बीमा कर्मचारी की हताश एवं निराश मन: स्थिति से गुजरते हुए प्रथमत: मेरी इच्छा इस बेकार की बहस में पड़ने की नहीं थी परन्तु इस घोर निराशा एवं अन्धकार के सर्वव्यापी माहौल में भी उक्त दोनों ही उत्साही एवं जागरूक साथियों ने ही अपने लेख से मुझेबाध्य किया कि मैं अपने विचार इस बहस में शामिल करूं जो कि इस प्रकार हैं।

साथी सती ने पूरे मुद्दे को बहुत ही समग्र रूप में रखा है जो कि उचित ही है परन्तु उनके पूरे लेख से ऐसा प्रतीत होता है अथवा ऐसा प्रभाव मन पर पड़ता है जैसे कि इस समूचे प्रकरण में बीमा उद्योग की यूनियनों ने सही रणनीति अपना न पाने की गलती की है तथा ए आइ आइ ई ए जो कि प्रमुख प्रतिनिधि यूनियन है मुख्य रूप से जिम्मेदार है, मुझे इस निष्कर्ष पर आपत्तियां हैं। इसी प्रकार साथी मनोज जब कहते हैं कि ए आई आई ई ए कोई ब्रेड बटर ट्रेड यूनियन नहीं है तो मुझे यह संशोधन आवश्यक प्रतीत होता है कि यह कथन भूतकाल के लिए तो है परन्तु वर्तमान के लिए इसमें सन्देह अवश्य प्रतीत होता है। बीमा उद्योग के निजीकरण एवं उसके विरोध का दौर वर्ष 1989 से ही शुरू होता है जहां इसके पक्षधरों ने तब से विधेयक पारित होने तक लगातार एवं चौतरफा हमला बोल रखा था तथा हर तरह से छोटे अथवा बड़े विरोध को शान्त करने चुप कराने अथवा पटा लेने का सतत प्रयास चला रखा था, वहीं बीमा उद्योग के निजीकरण के विरोधी मजदूर वर्ग के प्रतिनिधियों ने, यदि आज इस समूचे कालखण्ड के संघर्षों पर दृष्टि डाली जाय तो प्रतीत होगा कि वर्ष 1989 में जितने जोर का शोर किया उसमें निरन्तर कमी करते-करते वर्ष 1999 आते-आते लगभग मिमियाने लगे और आज विधेयक पारित हो जाने के बाद "पुन: एक और हस्ताक्षर अभियान" के साथ लड़ाई के मैदान में हैं परन्तु न जोश है न उत्साह है और न ही विश्वास है। इसी विरोध में शामिल एक यूनियन तो अपने नेता के आई आर डी ए के बोर्ड में शामिल किए जाने का जश्न मना रही है। स्थिति यह है कि यदि अन्य नेताओं को भी ऐसा व्यक्तिगत अवसर प्राप्त हो जाय तो शायद ही कोई ऐसा सामने आये जो इसे ठुकरा सके।

इस अवधि में निजीकरण के पक्षधरों ने अपने आपको हर तरह से संगठित किया वहीं बीमा उद्योग की यूनियनों का साझा मंच कायदे से कभी न बन पाया। जबकि होना तो यह चाहिए था कि आम जनता को जोड़कर जुझारू शक्ति का निर्माण किया जाता। ऐसा असंभव भी नहीं था। आखिर आटोमेशन के सवाल पर अथवा बोनस के मामले पर अथवा स्प्रिट के सवाल पर ए आई आई ई ए ने ऐसा अनेक बार किया है परन्तु इस वर्तमान दौर में इसका उल्टा ही किया गया। विभिन्न वेतन समझौतों एवं पेंशन के संघर्ष के दौरान ऐसे नारे एवं नीतियां अपनाई गईं। अभी हाल के वेतन समझौते के बाद स्थिति यह है कि जी.आई.सी., बैंक यहां तक कि एल आई सी के विभिन्न श्रेणियों के कर्मचारियों के वेतनों में अन्तर पहले से काफी बढ़ गये और वित्तीय क्षेत्र के ही कर्मचारी, जिनकी एकता का प्रमुख आधार लगभग समान कार्य स्थितियां एवं वेतनमान होते रहे हैं, को एक मंच पर लाना पहले से कठिन हो गया है।

खास गौर करने की बात है कि विश्व पूंजीवाद की साजिश से बीमा उद्योग को बचाने की जिम्मेदारी ओढ़े हुए नेताओं ने ही यह नारा दिया कि जीवन बीमा निगम ज्यादा लाभ कमाता है अत: ज्यादा पैसा उसके कर्मचारियों को मिलना चाहिए। यह नारा तो जीवन बीमा में खूब चला पर इसकी कीमत यह रही कि इससे पहले जो यूनियनें राजनीतिक आधार पर साथ हुआ करती थी वह भी अब अलग-अलग हैं। ऐसा नहीं माना जाना चाहिए कि इन नेताओं को यह पता नहीं था कि लाभ कमाना किसी उद्योग के कर्मचारियों से ज्यादा प्रबन्धकों के हाथ में होता है तथा यदि जी आई सी या बैंक या अन्य जगह मुनाफा कम हो रहा है अथवा एल आई सी में ज्यादा हो रहा है तो यह कर्मचारियों के कारण नहीं है। मेरी समझ में तो यह नारा जान बूझ कर इस ग्लोबलाइजेशन/प्राइवेटाइजेशन के खिलाफ मजदूर एकता के जोश को ठण्डा करने के लिए छेड़ा गया था और आज इसका परिणाम यह हुआ है कि वर्तमान वेतन समझौते में इसी को आधार बनाकर जीवन बीमा निगम में अधिकारियों को तो खूब मलाई मिली है परन्तु तृतीय/चतुर्थ श्रेणी के लिए इससे खराब समझौता पहले कभी नहीं हुआ। जी आई सी की दशा तो और दयनीय हो गई है।

यही नहीं, विगत दशक में ही पेंशन के सवाल पर जो नीतियां इन नेताओं द्वारा अपनाई गई उनसे एकता बनने के बजाय कमजोर ही हुई है तथा लाभ भी कर्मचारियों को नहीं मिला। एक और ऐसे ही अवसर का यदि उल्लेख न किया जाय तो बात अधूरी ही रहेगी। रेलवे में 1974 की हड़ताल के समय उनका हर तरह से साथ देने वाली यूनियन ए आई आई ई ए ने उस समय भी इस मुद्दे पर अपने को उनसे अलग कर लिया जबकि रेलकर्मी बोनस की मांग कर रहे थे, (संयुक्त मोर्चा सरकार के समय) डाक तार कर्मियों ने उन्हें ज्वाइन भी कर लिया था तथा बीमा कर्मचारियों की मांग होते हुए भी यहां की यूनियनें ने न तो उनके संघर्ष में शामिल हुई और न ही उनको बोनस मिलने के बाद ही इस मुद्दे को उठाया। क्या कारण हो सकता है सिवा इसके कि यदि रेल, डाक, बैंक, बीमा आदि के कर्मचारियों का साझा महासंघ बन गया, यदि मजदूरों में अपनी शक्ति, जो कि असीमित है, का एहसास हो गया तो इसे केवल बोनस के मुद्दे तक सीमित करना संभव नहीं होगा बल्कि नई आर्थिक नीतियों के खिलाफ यह और व्यापक तथा उग्र रूप ले सकता है। कुछ अन्य उदाहरण भी इस दशक के दौरान के हो सकते हैं जिनसे मेरी उक्त आशंका अथवा अवधारणा को बल मिल सकता है। इस संघर्ष के दौरान जो साथी संसद घेराव के कार्यक्रम में भाग लिए होंगे उन्हें भी अनुभव हुआ होगा कि यह लड़ाई लड़ी जा तो रही थी परन्तु एक कर्मकाण्ड के रूप में।

मुझे सर्वाधिक प्रसन्नता होगी यदि मेरी बात गलत सिद्ध हो। परन्तु दुर्भाग्य पूर्ण यह है कि यूनियनें मजदूरों के पक्ष में संघर्ष करने के बजाय उन्हें मानसिक तौर पर हार स्वीकार कराने का कार्य कर रही हैं। उन्हें अच्छी तरह मालूम है कि क्या करने से जीत हासिल हो सकती है। वह सोच समझ कर ही चल रही हैं और इसमें सभी यूनियनों के नेता शामिल हैं सिर्फ ए आई आई ई ए को दोष देना उचित नहीं है।

– एस.एस.वर्मा
मण्डल कार्यालय
भारतीय जीवन बीमा निगम,
लखनऊ

शाहदरा के केबिल उद्योग में मज़दूरों की दयनीय स्थिति

पूरे देश में, विशेषकर नयी आर्थिक नीतियों के लागू होने के बाद के विगत एक दशक के दौरान मेहनतकश आबादी की स्थिति बद से बदतर होती जा रही है। मज़दूरों की एक भारी आबादी बेहद खतरनाक व अमानवीय परिस्थितियों में काम करने और जीने के लिए अभिशप्त है। तमाम जगहों पर छोटे-छोटे कारखानों के ऐसे जाल बिछे हुए हैं जहां थोड़े से मज़दूरों से हाड़तोड़ मेहनत करवायी जाती है और सभी श्रम कानूनों की खुलेआम धज्जियां उड़ायी जाती है। देश की राजधानी दिल्ली में तो ऐसे हजारों कारखानों की पूरी एक श्रृंखला है जहां लाखों की तादाद में मज़दूरों का बस गुज़र-बसर हो रहा है।

दिल्ली के शाहादरा क्षेत्र में भी बिजली का कंबिल बनाने वाले छोटे-छोटे कारखानों का ऐसा ही जाल बिछा है जहां हजारों की तादाद में मज़दूरों का अमानवीय शोषण ज़ारी है। कंबिल उद्योग से जुड़े तांबा (कॉपर) उद्योग में भी यही हाल है। मुख्य रूप से विश्वास नगर में और शाहादरा के अन्य जगहों में बिखरे हुए इन कारखानों में मज़दूरों का बेहद अमानवीय तरीके से निर्मम शोषण हो रहा है। इन कारखानों में 20, 25 या 40 की संख्या में मज़दूर काम करते हैं। काम करने के लिए 12 घंटे की ड्यूटी लगभग निश्चित रहती हैं। काम के अनुसार इससे ज्यादा समय की ड्यूटी भी हो सकती है। ओवर टाइम डबल न देकर सिंगल दिया जाता है। उसमें चाय पीने एवं खाना खाने के समय को दिहाड़ी में काट दिया जाता है। कुछ कारखानों में मजदूरों को कारखानेदार चाय देता है तो तमाम ज़गहों पर यह भी नहीं मिलता। यहां पर हेल्पर की तनख्वाह 1100 से 1300 रुपये मासिक तक और कारीगर की 2 हजार से 2400 रुपये मासिक है। उल्लेखनीय है कि दिल्ली सरकार द्वारा घोषित अकुशल मजदूर (हेल्पर) की दैनिक मज़दूरी 92 रुपये निर्धारित है। यही नहीं इन कारखानों में मालिक हेल्पर से भी कुछ माह बाद मशीन चलवाने लगते हैं। इनमें मालिक स्वयं अपनी निगरानी में काम करवाते हैं।

यहां के मजदूरों का कहना है कि "हम से 12 घंटे तक कमर तोड़ काम लिया जाता है ऊपर से मालिक का अभद्र व्यवहार भी सहना पड़ता है।" एक कारखाने के एक मजदूर ने बताया कि कारखाने में जब हमारे घर से कोई चिट्ठी-पत्री आती है तो मालिक उसे खुद अपने सामने ही पढ़वाता है और बाद में वहीं पकड़वा देता है। कारखाने में काम करने वाले इन मजदूरों का कोई लेखा-जोखा भी नहीं रक्खा जाता है। इन्हें कभी भी काम से हटाया जा सकता है। कारखाने में चोट-चपेट लगने पर ऐसे ही काम-काजू मरहम-पट्टी करा दी जाती है। उस मजदूर को घायल या बीमार अवस्था का कोई भुगतान, छुट्टी आदि नहीं दी जाती है। कॉपर उद्योग में काम करने वाले मजदूरों को तांबा गलाने वाली तपती भट्ठियों पर काम करना पड़ता है जिसके लिए इन फैक्टियों में एक्जास्ट फैन व पंखों की भी उचित व्यवस्था नहीं रहती है।

मजदूरों के शरीर पर तांबे का गर्म चूरा पड़ने से शरीर में दाने आदि लगातार होते रहते हैं। इसका कोई उपचार या रोकथाम का कोई साधन नहीं होता है। मंगलवार को यहां पर सभी उद्योगों में घोषित अवकाश रहता है, लेकिन काम होने पर मालिक इस दिन भी मजदूरों से काम ले लेते हैं। मजदूरों का कहना है कि यदि हममें से कोई मजदूर हिम्मत करके मालिक से 8 घंटे काम एवं साप्ताहिक छुट्टी की बात करता है तो मालिक का जवाब होता है कि 'क्या, आठ घंटे में जिंदा रह पावोगे' 'काम करो काम' आदि-आदि।

यहां काम करने वाले अधिकांशत: मज़दूर पूर्वी उत्तर प्रदेश के रहने वाले हैं और प्राय: आस-पास की बस्तियों में रहते हैं। एक-एक कमरे में 4-6 या 7 की संख्या में रहकर मजदूर बस किसी तरह ज़िन्दगी जी रहे हैं।

उदारीकरण के वर्तमान दौर में निजीकरण-छंटनी-तालाबन्दी की जारी नीतियों के कारण लगातार बढ़ती बेकारी से जहां मालिकों को और ज्यादा लूटने की खुली छूट मिली है, वहीं मज़दूर कठोर शर्तों पर अपना सस्ता श्रम बेचने के लिए मजबूर है। यही कारण है कि इन कारखानों के मज़दूर कभी एक कारखाने तो कभी दूसरे कारखाने में भटकते हुए काम करते रहते हैं। ज़िन्दा रहने के लिए उन्हें किसी न किसी मालिक के वहां अपनी हड्डियां गलानी ही पड़ती हैं।

आखिर मज़दूरों की इस नारकीय ज़िन्दगी के लिए जिम्मेदार कौन है? जाहिरा तौर पर वह लुटेरी आदमखोर व्यवस्था जिसके मुनाफे की अंधी हवस ने मेहनतकशों के एक-एक बूंद खून को निचोड़कर उन्हें निढाल छोड़ दिया है। आज इन मुनाफाखोरों के तेवर की लगातार आक्रामकता इसलिए बढ़ी है और बढ़ती जा रही है, क्योंकि मेहनतकशों की ताकत बिखरी हुई है। मेहनतकश जनता, पूंजीवादी सत्ताधारियों की तिकड़मों का शिकार होकर जाति-धर्म-क्षेत्र के नाम पर, अलग-अलग कारखानों के नाम पर बंटी हुई है।

इस विकट स्थिति से छुटकारा पाने के लिए ज़रूरी है कि श्रमिक जन अपनी ताकत को पहचाने, वर्गीय एकजुटता कायम करें अपने जुझारू यूनियनों का गठन करें उनमें क्रान्तिकारी धार पैदा करें और अपने हक के लिए छोटे-बड़े संघर्षों को करते हुए इस पूरी लुटेरी व्यवस्था के खात्मे के लिए संकल्पबद्ध हों।

(बिगुल टीम द्वारा प्रस्तुत)

क्रांतिकारी सिद्धांत के बिना क्रांतिकारी आंदोलन असंभव

लेनिन

क्रांतिकारी सिद्धांत के बिना क्रांतिकारी आंदोलन असंभव है। ऐसे समय में, जब अवसरवाद के फ़ैशनेबुल प्रचार और व्यावहारिक काम के अत्यंत संकुचित रूपों के प्रति मोह का दामन-चोली का साथ है, इस विचार पर जितना भी ज़ोर दिया जाये थोड़ा है। रूसी सामाजिक -जनवादियों के लिए तो तीन अन्य कारणों से सिद्धांत का महत्व ख़ास तौर पर बढ़ जाता है, जिन्हें लोग अकसर भूल जाते हैं: पहला कारण यह है कि हमारी पार्टी अभी बन रही है, उसकी रूपरेखा अभी तैयार ही हो रही है और अभी तक वह क्रांतिकारी विचारधारा की उन दूसरी प्रवृत्तियों से निपट नहीं पायी है, जिनसे यह ख़तरा है कि वे आंदोलन को सही मार्ग से हटा देंगी। इसके विपरीत, अभी हाल में ही ग़ैर सामाजिक-जनवादी क्रांतिकारी प्रवृत्तियों में नये सिरे से जान आयी है (अक्सेलरोद ने बहुत पहले "अर्थवादियों" को आगाह किया था कि यह होनेवाला है)। ऐसी हालत में पहली बार देखने में एक "महत्वहीन" मालूम पड़नेवाली ग़लती आगे चलकर बहुत शोचनीय परिणाम पैदा कर सकती है, और केवल अत्यंत अदूरदर्शी लोग ही गुटों के झगड़ों को तथा विभिन्न प्रवृत्तियों में सख़्ती के साथ फ़र्क़ करने को असामयिक या बेकार की चीज़ समझ सकते हैं। रूसी सामाजिक-जनवादी आंदोलन का आनेवाले एक बहुत ही लंबे काल में क्या भविष्य होगा, यह इस बात पर निर्भर कर सकता है कि आज उसमें कौन-सी "प्रवृत्ति" ज़ोर पकड़ती है।

दूसरे, सामाजिक-जनवादी आंदोलन सारतः एक अंतर्राष्ट्रीय आंदोलन है। इसका मतलब न सिर्फ़ यह है कि हमें राष्ट्रीय अंधराष्ट्रवाद का मुक़ाबला करना चाहिए, बल्कि इसका मतलब यह भी है कि एक नये देश में शुरू होनेवाला आंदोलन केवल उसी हालत में सफल हो सकता है, जब वह दूसरे देशों के अनुभव का उपयोग करे। इस अनुभव का उपयोग करने के लिए केवल उसकी जानकारी रखना या नवीनतम प्रस्तावों की नक़ल कर लेना ही काफ़ी नहीं है। इसके लिए ज़रूरत इस बात की है कि इस अनुभव को आलोचनात्मक दृष्टि से अंगीकार किया जाये और उसे स्वतंत्र रूप से परखा जाये। आधुनिक मज़दूर आंदोलन कितना बढ़ चुका है और कितनी शाखा-प्रशाखाओं में फैल चुका है, इसका जिसे थोड़ा भी ज्ञान है, वह यह समझ लेगा कि इस काम को पूरा करने के लिए सैद्धान्तिक शक्तियों तथा राजनीतिक (और साथ ही क्रांतिकरी) अनुभव के कितने विशाल संचित कोष की आवश्यकता है।

तीसरे, रूसी सामाजिक-जनवादी आंदोलन के सामने ऐसे राष्ट्रीय कर्यभार हैं, जैसे आज तक संसार की किसी समाजवादी पार्टी के सामने नहीं आये हैं। समस्त जनता को निरंकुशता के जुए से मुक्त करने के कार्यभार हम पर जिन राजनीतिक तथा संगठनात्मक ज़िम्मेदारियों को थोपते हैं, उनके बारे में कहने का मौक़ा हमें आगे मिलेगा। यहां हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि **हरावल दस्ते की भूमिका केवल वही पार्टी अदा कर सकती है, जो सबसे उन्नत सिद्धांत से निदेशित होती है।** इस बात का मतलब मूर्त रूप में समझने के लिए पाठक हर्ज़ेन, बेलींस्की, चेर्निशेव्स्की तथा गत शताब्दी के आठवें दशक के क्रांतिकारियों के उज्ज्वल नक्षत्रपुंज जैसे रूसी सामाजिक-जनवादी आंदोलन के अग्रजों को याद करें; वे सोचें कि आज रूसी साहित्य सारे संसार के लिए कितना बड़ा महत्व प्राप्त करता जा रहा है, वे... लेकिन इतना काफ़ी है! (*'क्या करें'* पृष्ठ *39-40*)

भारत में क्रांतिकारी वामपन्थी आन्दोलन की समस्याएं: एक बहस

'बिगुल' के पिछले अंक में हमने इस बहस के अन्तर्गत साथी पी.आर.हरणे का लेख छापा था। इस लेख पर मऊ जिले में गांव के गरीबों के बीच कार्यरत कुछ साथियों की ओर से एक प्रतिक्रिया हमें प्राप्त हुई है जिसे इस बार हम छाप रहे हैं। 'बिगुल' के पाठकों से हमारी अपील है कि वे इस बहस में सक्रिय भागीदारी करें, जिससे इसे और सार्थक बनाया जा सके। – सम्पादक

एकता के सवाल पर सही रुख अपनाने की जरूरत

भारत में क्रान्तिकारी वामपन्थी आन्दोलन की समस्याओं पर 'बिगुल' में जारी बहस के तहत मई 2000 अंक में छपी साथी पी.आर. हरणे की टिप्पणी पर हम लोग कुछ बातें कहना चाहते हैं। साथी हरणे की टिप्पणी में बहस के मूल बिन्दु से जुड़े हुए कई ऐसे बिन्दु भी उभरकर सामने आये हैं, जिन पर अलग से बहस की दरकार है। जैसे – इस पर अलग से एक बहस होनी चाहिए कि सोवियत संघ में समाजवादी ढांचा कब ढहा? सोवियत संघ में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना निर्णायक रूप से कब हुई – 1956 में ख्रुश्चेव के समय या नब्बे के दशक में? यह कोई प्रोफेसरी बहस नहीं होगी। इसका सीधा रिश्ता वैज्ञानिक समाजवाद की हमारी समझ से है। इसी तरह, आज के साम्राज्यवाद पर, यानी भूमण्डलीकरण के दौर में साम्राज्यवाद की प्रकृति में आये बदलावों, उसकी बदली हुई कार्यप्रणाली आदि पर भी एक अलग बहस जरूरी है। इसी तरह के अन्य महत्वपूर्ण बिन्दु और भी हैं – जैसे आज क्रान्तिकारी मार्क्सवाद और गैर क्रान्तिकारी मार्क्सवाद के बीच की विभाजक रेखा क्या होनी चाहिए आदि। लेकिन, इन बिन्दुओं पर फिलहाल कुछ कहने के बजाय हम लोग साथी हरणे की टिप्पणी की मूल चर्चा पर ही अपनी कुछ बातें रखना चाहते हैं – यानी, क्रान्ति के स्तर निर्धारण (या मंजिल निर्धारण) का सवाल भारतीय क्रान्ति के लिए क्या अहमियत रखता है? अहमियत रखता भी है अथवा नहीं?

देश के क्रान्तिकारी आन्दोलन से किसी भी रूप में जुड़ाव महसूस करने वाला हर व्यक्ति साथी हरणे की इस भावना से पूरी तरह सहमत होगा कि "हमारे देश में आज के हालात में क्रान्तिकारी पार्टी एवं ग्रुपों का विभाजन एवं सत्ताधारीवर्ग के चरित्र के स्वरूप के निर्धारण के प्रश्न पर उनमें मौजूद आपसी मतभेद मजदूर किसान जनता के आन्दोलनों को संगठित करने के रास्ते में बहुत बड़ी बाधा बना हुआ है।" यह एक नंगी सच्चाई है, जिसे कोई भी इनकार नहीं कर सकता। जाहिर है यह स्थिति क्षोभजनक है और साथी हरणे का इसपर क्षुब्ध होना भी स्वाभाविक है।

लेकिन कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन में यह क्षोभजनक स्थिति क्यों बनी हुई है? नक्सलबाड़ी के तीन दशकों बाद भी देश के सत्ताधारी वर्ग के चरित्र एवं क्रान्ति की मंजिल के प्रश्न पर मतभेद सुलट क्यों नहीं पा रहे हैं? एक सर्वभारतीय क्रान्तिकारी मजदूर वर्गीय पार्टी के निर्माण एवं गठन के रास्ते की बाधाएं क्या-क्या हैं? भारतीय सर्वहारा क्रान्ति से जुड़े इन बुनियादी सवालों का जवाब ढूंढना आज वक्त की जरूरत है। देश के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन की मौजूदा वस्तुगत सच्चाई का हमें अपने मार्क्सवादी-लेनिनवादी विश्लेषण पद्धति से विश्लेषण करते हुए इन सवालों के सही जवाब ढूंढने ही ही होंगे, तभी आन्दोलन का गतिरोध टूटेगा और सच्ची एकता की प्रक्रिया शुरू होगी। लेकिन साथी हरणे की टिप्पणी से यह जाहिर होता है कि वह इन सवालों को ही खास तरजीह नहीं देते। यदि हमने गलत नहीं समझा है तो उनकी टिप्पणी में यह सोच प्रकट होती है कि सत्ताधारी वर्ग के चरित्र निर्धारण या क्रान्ति के स्तर निर्णय के प्रश्नों पर आपसी फूट का कोई औचित्य नहीं है। साथी हरणे की नज़र में "क्रान्तिकारियों के लिए शोषित जनता के जीवन की दुर्दशा मूल बात होनी चाहिए अथवा (न कि) उनकी अपनी तथाकथित विशिष्टता एवं उसका आग्रह।' क्या साथी हरणे यहां यह कहना चाह रहे हैं कि कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी ग्रुपों की आपसी फूट का कारण सिर्फ "उनकी अपनी तथाकथित विशिष्टता एवं उसका आग्रह" है? लगता तो ऐसा ही है। साथी की नजर में फूट का कारण भी एक किस्म की विशिष्टता बनाये रखने का भावनात्मक दुराग्रह है और एकता के लिए भी "सिर्फ शोषित जनता के जीवन की दुर्दशा" का भावनात्मक आग्रह ही पर्याप्त है – कम से कम उपर्युक्त पंक्ति से तो यही बात निकलती है।

हमें नहीं लगता कि साथी हरणे की भावना को हमने गलत समझा है। टिप्पणी में एक जगह और भी वह लिखते हैं: "शोषित अपने प्रश्न को लेकर जब संघर्ष का रास्ता अख्तियार करता है तब एक ही सत्ता उस पर लाठी-गोली बरसाती है। फिर आप उस सत्ता को सामन्ती कहें, साम्राज्यवादियों का दलाल कहें अथवा पूंजीवादी। और उस सत्ता के संचालक सत्ताधारी वर्ग को सामन्ती कहें, साम्राज्यवादियों का दलाल कहें अथवा पूंजीवादी। फिर इस सवाल पर क्रान्तिकारियों के इतने गुटों में विभाजन की क्या सार्थकता है?" यहां यह सोच काफी स्पष्टता से सामने आयी है कि सत्ताधारी वर्गों का शोषित वर्गों पर दमनात्मक आचरण चूंकि एक जैसा होता है इसलिए उनके चरित्र निर्धारण के सवाल पर बंटे रखना क्रान्तिकारी ग्रुपों की अपनी "तथाकथित विशिष्टता" को बनाये रखने का आग्रह ही हो सकता है।

क्रान्तिकारी आन्दोलन में व्याप्त फूट और एकता के कारणों के विश्लेषण की साथी हरणे की पद्धति से समस्या का एक बेहद सरल समाधान निकलता है – अपनी विशिष्टता बनाये रखने के बेजा आग्रहों से क्रान्तिकारी ग्रुप अपना पिण्ड छुड़ा लें और एक किस्म का क्रान्तिकारी भरत मिलाप कर लें। आखिर जब सभी क्रान्तिकारी ग्रुप शोषित- उत्पीड़ित जनता की मुक्ति ही चाहते हैं तो फिर सत्ताधारी वर्गों के चरित्र निर्धारण और क्रान्ति की मंजिल निर्धारण के सवालों पर बंटे रहने का क्या तुक है? साथी यही कहना चाहते हैं, न!

साथी हरणे! काश बात इतनी ही आसान होती! क्रान्तिकारी वामपन्थी आन्दोलन की समस्याओं का विश्लेषण और उनका समाधान सिर्फ आग्रहों-दुराग्रहों के भाववादी विश्व- दृष्टिकोण से नहीं हो सकता। सिर्फ पवित्र चाहतों से दुनिया नहीं बदल सकती। सर्वहारा वर्ग एवं समस्त शोषित उत्पीड़ित जन समुदाय शोषक-शासक वर्गों के खिलाफ संघर्ष में अपनी मुक्ति की चाहत को प्रस्थान बिन्दु तो बना सकते हैं, लेकिन यदि उन्हें अपने संघर्ष में कामयाब होना है तो उन्हें अपने दोस्तों-दुश्मनों की सही-सटीक पहचान करनी होगी। दुश्मनों के चरित्र को, उनकी विशिष्टताओं को, शोषण-उत्पीड़न की बारीकियों को, उनकी रणनीति- रणकौशल की बारीकियों को भी समझना होगा और अपने मित्र वर्गों की भी सही पहचान करनी होगी और संघर्ष की सही रणनीति-रणकौशल ईजाद करना होगा। यह इसलिए, क्योंकि सर्वहारा वर्ग प्रतिक्रियावादी वर्गों के खिलाफ सचेत वर्ग संघर्ष का संचालन करता है, उसे दुश्मन के किले को ध्वस्त करने के लिए व्यूह-रचना करनी होती है। इसी अर्थ में सर्वहारा क्रान्तियां विश्व इतिहास की सर्वाधिक संगठित और सचेत क्रान्तियां हुआ करती हैं।

जब सर्वहारा क्रान्ति की सही-सटीक कारगर रणनीति और रणकौशल के निर्धारण की बात आयेगी तो फिर सत्ताधारी वर्ग के चरित्र का निर्धारण करना होगा क्योंकि तभी उसके प्रति सर्वहारा वर्ग का सही रुख तय हो सकता है। सत्ता में कौन बैठा है? साम्राज्यवाद के साथ उसका रिश्ता क्या है?........... क्रान्ति की मंजिल जनवादी होगी या समाजवादी? ये प्रश्न बेमतलब के नहीं हैं। इन प्रश्नों का जो जवाब हमारे पास होगा, उससे हमारी रणनीति-रणकौशल और क्रान्ति के मार्ग का निर्धारण होगा। सर्वहारा वर्ग की पार्टी को शहरी एवं ग्रामीण सर्वहारा वर्ग के अतिरिक्त किन मित्र वर्गों की लामबन्दी करनी है? दूसरे शब्दों में कहें तो संयुक्त मोर्चे का स्वरूप क्या होगा? क्रान्ति के इन व्यावहारिक प्रश्नों से जूझे बगैर क्या हम सफल हो पायेंगे?

नवजनवादी क्रान्ति और समाजवादी क्रान्ति के बीच कोई चीन की दीवार नहीं होती। साथी हरणे का यह कहना सही है। लेकिन क्रान्ति की इन दोनों मंजिलों में कृषि कार्यक्रम अलग-अलग होता है, वर्गों की लामबन्दी का स्वरूप अलग- अलग होता है। एक में प्रमुख कार्यभार जमीन जोतने वालों को जमीन दिलाना होता है। दूसरे में, खेती में निजी मालिकानों के स्थान पर सामूहिक खेती, सामूहिक मालिकाने के आधार पर ग्रामीण जीवन का पुनर्गठन बहुत महत्वपूर्ण काम होता है। साथ ही सामूहिक मालिकाने या सामूहिक खेती के भी सिर्फ एक रूप नहीं होते। कौन- कौन से रूप अख्तियार करने पड़ेंगे? नव-जनवादी क्रान्ति की मंजिल में सामन्ती भूस्वामी वर्ग से त्रस्त धनी किसान मित्र वर्ग के पाले में खड़ा होता है, समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में वह शत्रु वर्ग के पाले में जा खड़ा होता है। उसके साथ संयुक्त मोर्चा नहीं बन सकता। जब भारतीय क्रान्ति के इन व्यावहारिक सवालों से हम जूझेंगे, तब हमें आज के भारतीय गांवों में कृषि की उत्पादन प्रणाली पर बहस में उतरना ही होगा क्योंकि इससे हमारा कृषि कार्यक्रम तय होगा, नारे निकलेंगे, वर्गों की लामबन्दी साफ होगी। इसलिए, इन सवालों पर मतभेदों और उनके जवाब ढूंढने की कोशिशों को सिर्फ अपनी विशिष्टता बनाये रखने का आग्रह कहना क्या उचित होगा? साथी हरणे इस पर विचार करें। यह हमारा दोस्ताना आग्रह है।

हां, यदि साथी हरणे सिर्फ यह कहना चाहते हैं कि इन बुनियादी मुद्दों पर मतभेदों के रहते हुए भी विभिन्न क्रान्तिकारी ग्रुपों के बीच आम जनता की जिन्दगी से जुड़े अनेक साझा मुद्दों पर साझा कार्रवाइयों के लिए साझा मोर्चे बनाये जाने चाहिए, तो उनकी इस राय से हम सहमत हैं। यह आज वक्त की जरूरत है। यह भी क्यों नहीं सम्भव हो पा रहा है, इस पर सोचा जाना चाहिए।

लेकिन, हमें लगता है कि साथी का आग्रह सिर्फ इतना ही नहीं है। वह तो कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी शिविर के बिखराव और आन्दोलन के ठहराव से जुड़े अहम सैद्धान्तिक मसलों को ही गैरजरूरी मानने तक जा पहुंचते हैं और सिर्फ एकता की जरूरत से उत्पन्न भावनात्मक आग्रह के आधार पर जल्दी-जल्दी गैर उसूली एकता कायम कर लेने की राय रखते जान पड़ते हैं। वैसे इस तरह की एकताओं के प्रयास भी हमारे आन्दोलन में कम नहीं हुए हैं। उनका अनुभव क्या रहा है? क्या उनसे कोई सबक हमारे लिए नहीं निकलता?

हमारी राय में कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन में सच्ची फौलादी एकता कायम करने के लिए जरूरी है कि उसूली सवालों पर गम्भीर बहस-मुबाहसों में उतरा जाये। ठीक इसी चीज की आज बेहद कमी दिखायी देती है। सैद्धान्तिक एकता ही आन्दोलन की एकता की मजबूत बुनियाद हो सकती है। इस मसले पर कोई ढिलाई खतरनाक होगी। विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन के अनुभव इसके गवाह हैं। बेशक, तमाम सैद्धान्तिक बहस-मुबाहसे अपनी-अपनी सांगठनिक शक्ति के आधार पर व्यावहारिक कार्रवाइयों को संचालित करने के दौरान ही होने चाहिए। प्रोफेसरी अन्दाज में नहीं। साथ ही, ऐसा करते हुए साझा कार्रवाइयों में भी निश्चित रूप से उतरना होगा।

अपनी टिप्पणी में कुछेक स्थानों पर साथी हरणे सत्ताधारी वर्ग के चरित्र, क्रान्ति की मंजिल के निर्धारण, दोस्त-दुश्मन की पहचान आदि सवालों पर बहस-मुबाहसे चलाने की जरूरत महसूस करते हुए दिखायी देते हैं, लेकिन एकता के लिये ये मुद्दे बुनियादी महत्व के हैं, इस पर उनका जोर नहीं है। यह चीज बेहद नुकसानदेह साबित होगी। सैद्धान्तिक प्रश्नों पर वाद-विवाद के महत्व एवं एकता कायम करने के प्रति रुख के सवाल पर साथी हरणे को सही द्वंद्वात्मक भौतिकवादी ढंग से पुनर्विचार करना चाहिए। क्योंकि अवैज्ञानिक भाववादी आग्रहों से निराशा ही हाथ आती है।

क्रान्तिकारी अभिवादन सहित!
गांव के गरीबों के बीच
कार्यरत कुछ साथी, मऊ।

जनमुक्ति की अमर गाथा :
चीनी क्रान्ति की सचित्र कथा (भाग-पांच)

लम्बे अभियान से येनान की मुक्ति तक

1917 की सोवियत समाजवादी क्रान्ति के बाद 1949 की चीनी नवजनवादी क्रान्ति बीसवीं सदी की दूसरी महानतम क्रान्ति थी जिसने न सिर्फ चीन बल्कि पूरी दुनिया के इतिहास-विकास की दिशा पर अमिट प्रभाव छोड़ा। चीनी क्रान्ति के नेता माओ त्से-तुङ लेनिन के बाद हमारे समय के महानतम क्रान्तिकारी थे।

समाजवादी सोवियत संघ आज बिखर चुका है और चीन में भी समाजवाद का मुखौटा लगाकर पूंजीवादी पथगामी शासन कर रहे हैं लेकिन इन दोनों महान क्रान्तियों ने विश्व इतिहास पर जो छाप छोड़ी है, वह अमिट है। इन क्रान्तियों ने दुनिया भर के मेहनतकशों को जो राह दिखाई, उसपर वे निश्चय ही फिर आगे बढ़ेंगे और साम्राज्यवाद के ताबूत में आखिरी कील ठोंकने का काम करेंगे। इक्कीसवीं सदी नई सर्वहारा क्रान्तियों की सदी होगी जिनकी राह बीसवीं सदी की प्रारम्भिक सर्वहारा क्रान्तियां रोशन करती रहेंगी।

बीसवीं सदी के अन्तिम वर्ष से चीन की नवजनवादी क्रान्ति का अर्द्धशतीवर्ष शुरू हुआ है जो नई सदी के पहले वर्ष के अक्टूबर माह तक चलेगा। इस अवसर पर हम बिगुल के पाठकों के लिए इस महान क्रान्ति की गाथा को चित्रों के माध्यम से प्रस्तुत कर रहे हैं। इस बार प्रस्तुत है इसका पांचवां भाग। — सम्पादक

1. 1930 के दशक के शुरुआती वर्षों में माओ की लाल सेना ने क्वोमिन्ताङ सरकार की सेनाओं के खिलाफ कई लड़ाइयों में जीत हासिल की। कई लाल आधार-क्षेत्र स्थापित किये गये। जब जापान ने 1932 में चीन पर हमला किया तो कम्युनिस्ट पार्टी ने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और जनता का इन साम्राज्यवादियों से लड़ने के लिए आह्वान किया। लेकिन च्याङ काई-शेक के नेतृत्व वाली क्वोमिन्ताङ की सेनाओं ने जापानियों के खिलाफ लड़ने से इंकार कर दिया और लाल सेना पर भारी हमले जारी रखे। 1933 में क्वोमिन्ताङ ने अमेरिका और ब्रिटेन के पैसे और जर्मन सेना विशेषज्ञों की सलाह की सहायता से लाल सेना के खिलाफ "पांचवां घेराबंदी अभियान" शुरू किया। लाल सेना के विरुद्ध क्वोमिन्ताङ की दस लाख सैनिकों की टुकड़ियां, टैंक और हवाई जहाज जुटाये गये। 16 अक्टूबर 1934 को माओ और लाल सेना को रणनीतिक कारणों से कियाङसी से पीछे हटने को मजबूर होना पड़ा। यहीं लाल सेना की सबसे आश्चर्यजनक, वीरतापूर्ण और प्रेरणादायी यात्रा की शुरुआत थी जिसका नाम है—लम्बा अभियान।

किसानों और मजदूरों की लाल सेना महीनों के युद्ध के बाद बुरी तरह थक चुकी थी। लेकिन वह क्वोमिन्ताङ की मशीनगनों के खिलाफ लड़ते रहे और आखिरकार उन्होंने उस भीषण घेराबंदी को तोड़ दिया। घेराबंदी को तोड़ने की इस लड़ाई में क्वोमिन्ताङ की सौ रेजीमेण्टों के खिलाफ नौ लड़ाइयां लड़ी गयीं जिसमें 25,000 लाल सैनिक मारे गये। मुट्ठी भर लाल सैनिकों के नेतृत्व में हजारों किसान जमे रहे और अंत तक लड़े। इस वीरतापूर्ण महान लड़ाई ने दुश्मन के हौसले पस्त कर दिये और माओ और लाल सेना वहां से निकलने में कामयाब हो गये। किसान बड़ी संख्या में अभियान में शामिल हुए—बूढ़े और जवान, पुरुष और स्त्रियां, बच्चे, कम्युनिस्ट, जो कम्युनिस्ट नहीं थे वे भी, और 12-15 साल के लड़के-लड़कियां जिन्होंने संदेशवाहक, बावर्ची, टोही दल और तुरही बजाने वालों के रूप में लाल सेना के लिए अमूल्य काम किया।

दुर्गम बर्फीले पहाड़ों को पार करते हुए लाल सेना, 1933

2. लाल सेना लगातार हो रहे हमलों के बीच मार्च करती रही। एक सैनिक के शब्दों में : "हमें हर दिन लड़ना पड़ता था, दुश्मन संख्या में हमसे बहुत अधिक था। हम केवल कलेजा मजबूत कर टिके रह सकते थे और हिम्मत बुलंद करने के लिए गाते थे—"लाल सेना मौत से नहीं डरती। जो मौत से डरता है, वह लाल सेना का आदमी नहीं है।" हम बहुत थके रहते थे, हम अपने आपको अपनी बंदूकों से, पेड़ों से कस लेते, एक दूसरे को आपस में बांध लेते... हम खड़े-खड़े सोते थे, यहां तक कि हम चलते हुए सोते थे। हमारे दिमाग में सिर्फ एक चीज रहती थी, सोना। लेकिन सोने का कोई मौका नहीं था। मजबूत लोग कमजोर लोगों को खींचते थे। हम न तो बिखरना चाहते थे और न ही पीछे छूटना चाहते थे। हम लम्बी रस्सियों में एक दूसरे को कतारों में बांध लेते थे ताकि मार्च करते समय कोई गिरे नहीं। पर मार्च जारी रहा।"

एक दूसरे सैनिक ने कहा : "दुश्मन के इलाके में हवाई-हमलों से बचने के लिए हम अक्सर रात में आगे बढ़ते थे। अगर चांद निकला हो और हल्की-हल्की हवा बह रही हो तो रात में मार्च अद्भुत होता है। जब दुश्मन की कोई टुकड़ी पास नहीं होती तो सारी कम्पनियां गातीं और बाकी जवाब में गाते। अगर काली रात होती और दुश्मन दूर होता तो हम चीड़ की डालियों या सूखे बांस से मशाल बना लेते, और तब सचमुच बहुत सुन्दर दृश्य उपस्थित हो जाता। एक पहाड़ की जड़ पर खड़े होकर हम पहाड़ पर लिपटे एक प्रचण्ड दैत्य की तरह दिखती मशालों की लम्बी कतार को देख सकते थे। शिखर पर से हम दोनों दिशाओं में आग की एक लहर के समान मशालों को आगे बढ़ते हुए देख सकते थे। अभियान के पूरे रास्ते के ऊपर एक लाल आभा चमकती रहती थी।"

चीनी क्रान्ति के महान नेता माओ त्से-तुङ, 1936 का चित्र

> लम्बा अभियान एक घोषणापत्र है। इसने दुनिया के सामने यह घोषित कर दिया है कि लाल सेना शरणार्थियों की सेना है, जबकि साम्राज्यवादी और च्याङ काई-शेक जैसे उनके कुत्ते नरभक्षक हैं... लम्बा अभियान एक प्रचारात्मक शक्ति भी है। इसने 11 प्रांतों में 20 करोड़ लोगों को यह बता दिया है कि लाल सेना की राह ही उनकी मुक्ति की अकेली राह है। लम्बा अभियान नहीं होता तो व्यापक जनसमुदाय उस महान सत्य के बारे में कैसे जान पाता जिसके लिए लाल सेना लड़ रही है। लम्बा अभियान बीज बोने की मशीन भी है। ग्यारह प्रांतों में इसने असंख्य बीज बोये हैं जिनमें अंकुर फूटेंगे, कोंपलें निकलेंगी, फूल खिलेंगे और फल आयेंगे। और भविष्य में भरपूर फसल होगी। एक शब्द में, लम्बा अभियान हमारे लिए जीत और दुश्मन के लिए हार के साथ खत्म हुआ है। लम्बे अभियान को जीत तक किसने पहुंचाया? कम्युनिस्ट पार्टी ने। कम्युनिस्ट पार्टी के बिना इस तरह के लम्बे अभियान की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।
>
> — माओ त्से-तुङ

3. जनवरी, 1935 में लाल सेना त्सुन्यी पहुंची जहां कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं का एक बड़ा महत्वपूर्ण सम्मेलन हुआ। गलत सैन्य दिशा की, जिसके कारण लाल सेना को कई हारों का सामना करना पड़ा था, और कियाङसी से पीछे हटने की आलोचना हुई। माओ के समग्र नेतृत्व और सैन्य दिशा का समर्थन किया गया और माओ पार्टी के सबसे बड़े नेता बन गये। इसके पहले तक माओ की लाइन पूरी तरह नहीं लागू की जाती थी। माओ ने कहा कि गतिशील छापामार युद्ध होना चाहिए: अनुकूल अवसर का इंतजार करना, दुश्मन को झांसा देकर फंसाना, दुश्मन को पीछा करने देना और थका देना, दुश्मन को गलतियां करने के लिए उकसाना और उसकी कमजोरियों को उजागर करना। जैसा कि कई लाल सैनिक कहते थे—"अध्यक्ष माओ के पास ऐसा तरीका है जिससे वह दुश्मन से भी वह काम करा सकते हैं जो वह चाहते हैं—वे इसे फिर से पहल हासिल करना कहते हैं। वे दुश्मन की नाक पकड़ उससे जो चाहते हैं, करवाते हैं।"

त्सुन्यी में माओ ने एक बार फिर लाल सेना के मुख्य कार्यभार निर्धारित किये — जनता के बीच प्रचार कार्य जारी रखना, उन्हें संगठित और शिक्षित करना, और जनता की सरकार स्थापित करने में मदद करना। और उन्होंने सैनिकों को लम्बे अभियान का अंतिम लक्ष्य बताया—"जापान से लड़ने के लिए उत्तर-पश्चिम की ओर बढ़ना।" माओ के नेतृत्व में पीछे हटना भी एक शानदार जीत में तब्दील हो गया जिसमें लाल सेना मजबूत स्थिति में थी। जब लाल सेना ने त्सुन्यी से प्रस्थान किया तो उस इलाके के 4000 किसान अभियान में शामिल हो गये।

4. अभियान के साथ साथ लाल सेना ने किसानों को अपने-अपने क्षेत्र मुक्त कराने और नये सोवियत (लाल-शासित) क्षेत्र स्थापित करने में सहायता की। दशकों तक जनता का शोषण-उत्पीड़न करने वाले जमींदारों को खत्म कर दिया गया। जमीन और फसल भूख से मरते हुए लोगों के बीच बांट दी गयी। जेलों को खोल दिया गया और कैदियों को रिहा कर दिया गया। और किसानों को बंदूकें बांट दी गयीं ताकि जब लाल सेना आगे बढ़ जाये तो वे लड़ सकें। यह बात चारों ओर फैल गयी और कई गांवों ने लाल सेना के पास अपना प्रतिनिधि मंडल भेजा और उससे "अपने निर्धारित रास्ते से हटकर अपने गांव को जमींदारों से मुक्त कराने" के लिए कहा।

एक सैनिक ने कहा : "हमने विशाल जनसभाओं का आयोजन किया। हमारी नाट्य टोलियों ने जनता के बीच नाटक किये और गीत गाये। हमारे राजनीतिक कार्यकर्ताओं ने नारे लिखे, और सोवियत संविधान और सोवियत सत्ता के मूलभूत सिद्धान्त की प्रतियां बांटीं। अगर हम किसी जगह एक रात भी रुके तो हमने किसानों को कम से कम इतना लिखना सिखा दिया—'सामंती अमीरजादों और जमींदारों को तहस-नहस कर दो' और 'भूमि को भूमिहीनों में बांट दो।' किसानों ने हमेशा हमारी मदद की और लाल सेना के बीमार, घायल और बुरी तरह थके हुए सैनिकों के इलाज और देखभाल का प्रस्ताव किया। हर घायल सैनिक को, जिसे पीछे छोड़ा जाता उसे कुछ पैसे, गोला-बारूद और उसकी राइफल देकर, ठीक हो जाने पर छापामार संघर्ष में किसानों का नेतृत्व करने को कहा जाता था।

लम्बे अभियान के दौरान तप कर निकलीं लाल सेना की स्त्री इकाइयां

लम्बे अभियान के दौरान निर्जन, दुर्गम और दलदली घास के मैदानों को पार करती लाल सेना

लम्बे अभियान का रास्ता

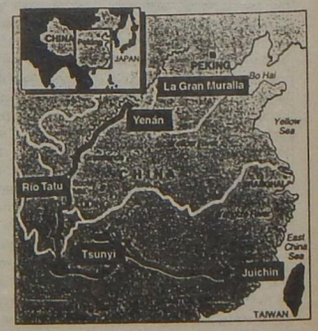

लाल सैनिक दुश्मन से छीने हुए हथियारों के साथ

चीनी क्रान्ति की सचित्र कथा (भाग-पांच)

5. तातू नदी पर क्वोमिन्ताङ की सेना लाल सेना को हराने के लिए इन्तजार कर रही थी चियाङ काई-शेक ने शेखी बघारी कि "लाल डाकुओं" को यहां उसी तरह डुबो दिया जायेगा जैसे 1864 के ताईपिङ विद्रोह में किसान विद्रोहियों को डुबोया गया था। तातू नदी को पार करना ही लम्बे अभियान की सबसे निर्णायक घटना थी। अगर लाल सेना यहां असफल हुई होती तो शायद वह पूरी तरह ध्वस्त कर दी जाती।

जब लाल सेना तातू नदी पर पहुंची तो क्वोमिन्ताङ की टुकड़ियां उसके ठीक पीछे थीं। जल्दी से नदी पार करने का माओ और लाल सेना के पास एक ही रास्ता था—ल्यू तिङ चियाओ पुल को पार करने का, जो वहां से 100 मील दूर था। क्वोमिन्ताङ ने वहां शहर पर पहले से ही कब्जा कर लिया था। लाल सेना ने रात-दिन पुल की ओर मार्च किया, इस बीच वह सिर्फ दस-दस मिनट आराम के लिये रुकी। इस दौरान सैनिक खाना खाते थे और राजनीतिक कार्यकर्ताओं की बातें सुनते थे जो यह समझाते थे कि इस एक कार्रवाई पर किस तरह जीवन-मरण का फैसला टिका हुआ है और जीत के लिए अंतिम सांस तक लड़ने का आह्वान करते।

वह सदियों पुराना पुल नदी के आर-पार खिंचे हुए सोलह भारी-भरकम जंजीरों से बना था जिनके बीच में मोटे तख्ते बिछे हुए थे। लेकिन क्वोमिन्ताङ ने आधे पुल पर से यह तख्ते हटा दिये थे। पुल के आधी दूर तक केवल लोहे की जंजीरें थीं और दूसरी ओर क्वोमिन्ताङ के मशीनगनधारी सैनिक तैनात थे। माओ ने लाल सैनिकों से जान हथेली पर रखकर आगे बढ़ने का आह्वान किया। तीस लोग चुने गये, जो हथगोलों और बंदूकों से लैस होकर हाथों से लोहे की जंजीरें थामकर आगे बढ़े। इतने में क्वोमिन्ताङ और लाल सेना की मशीनगनें गोलियां बरसाने लगीं।

पहले लाल वीर ने गोली खायी और नदी में गिर गया। दूसरा गिरा और फिर तीसरा। एक के गिरते ही दूसरा उसकी जगह ले लेता था। क्वोमिन्ताङ के सैनिक गोलियां बरसा रहे थे पर उन्हें अपनी आंखों पर भरोसा नहीं हो रहा था। उनकी तरफ बढ़ रहे सैनिक किस तरह के थे? क्या वे इंसान थे, या पागल या फिर देव? ये एक कटोरा चावल के लिए लड़ने वाले सैनिक नहीं थे। आखिरकार एक लाल सैनिक ने जवाबी कार्रवाई की और एकदम सटीक निशाने के साथ क्वोमिन्ताङ की किलेबंदी पर एक हथगोला फेंका। क्वोमिन्ताङ ने पुल को आग लगाने की कोशिश की, लेकिन तब तक और अधिक लाल सैनिक पुल पर झूलते हुए आगे बढ़ चुके थे और लगातार हथगोले फेंक रहे थे। क्वोमिन्ताङ की सारी टुकड़ियां भाग खड़ी हुईं—सौ लोगों को छोड़कर जो अपने हथियार फेंक लाल सेना में शामिल हो गये। शहर मुक्त करा लिया गया और तमाम स्थानीय किसानों ने कहा कि मृत ताइपिङ विद्रोहियों की आत्माएं अब रात को विलाप नहीं करेंगी, उनका बदला ले लिया गया है।

(दायें) तातू नदी पर बना दुर्गम ल्यू तिङ चियाओ पुल
(नीचे) ल्यू तिङ पुल पर धावा बोलते लाल सैनिक : लम्बे अभियान के दौरान तातू नदी पर बने इस पुल पर कब्जा करना लाल सेना के लिए जीवन-मरण का प्रश्न था। बहुत सम्भव था कि अगर लाल सेना इस नदी को पार नहीं कर पाती तो उसे वहीं पर नेस्तनाबूद कर दिया जाता।

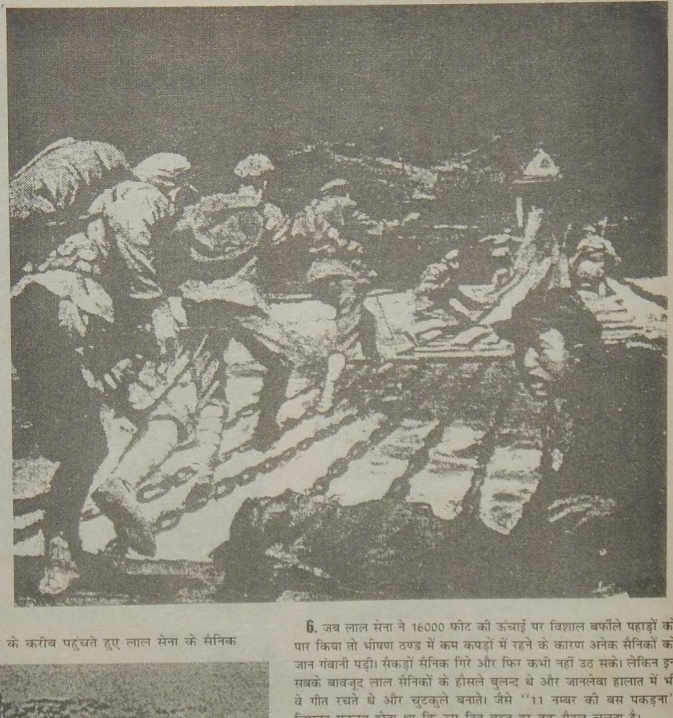

1935 के शिशिर काल में अपनी लम्बी यात्रा के अंत के करीब पहुंचते हुए लाल सेना के सैनिक

6. जब लाल सेना ने 16000 फीट की ऊंचाई पर विशाल बर्फीले पहाड़ों को पार किया तो भीषण ठण्ड में कम कपड़ों में रहने के कारण अनेक सैनिकों को जान गंवानी पड़ी। सैकड़ों सैनिक गिरे और फिर कभी नहीं उठ सके। लेकिन इन सबके बावजूद लाल सैनिकों के हौसले बुलन्द थे और जानलेवा हालात में भी वे गीत रचते थे और चुटकुले बनाते। जैसे "11 नम्बर की बस पकड़ना" जिसका मतलब होता था कि उस दिन बहुत दूर तक पैदल चलना है।

आखिरकार 20 अक्टूबर 1935 को, कियाङसी छोड़ने के एक साल बाद लम्बा अभियान समाप्त हुआ। माओ और उनकी सेना ने दुनिया के सबसे बीहड़ भू-भागों में से एक पर 6000 मील की दूरी तय की थी। वे बीस करोड़ की आबादी वाले 12 प्रदेशों से होकर गुजरे। उन्होंने 18 पर्वत श्रृंखलाओं और 24 नदियों को पार किया और 62 शहरों और कस्बों पर कब्जा किया। वे दस लाख क्वोमिन्ताङ सैनिकों से लड़े और उन्हें हराया। वे छः राष्ट्रीय अल्पसंख्यक क्षेत्रों से गुजरे। लाल सेना ने औसतन हर दिन एक लड़ाई का सामना किया जबकि कुल मिलाकर पूरे पंद्रह दिन भीषण युद्धों में बीते। अभियान कुल 368 दिनों तक चला जिनमें से 235 दिनों और 18 रातों तक यात्रा हो यात्रा की गई। लगभग एक लाख लोगों ने लम्बे अभियान की शुरुआत की थी पर इसके अंत के समय केवल बीस हजार लोग बचे थे।

लम्बे अभियान ने चीन के हजारों सबसे गरीब, अशिक्षित और उत्पीड़ित लोगों को शिक्षित, संगठित और हथियारबंद किया। कई किसान, मजदूर, गुलाम और क्वोमिन्ताङ के पदों को छोड़कर आने वाले लोग पार्टी और लाल सेना में शामिल हो गये। और तमाम लोग क्वोमिन्ताङ और जापानियों से लड़ने के लिए अपने गांव में ही रुक गये। लम्बा अभियान रणनीतिक रूप से पीछे हटना था पराजय नहीं। लाल सेना अपने सम्पूर्ण नेतृत्व और हमेशा की तरह मजबूत राजनीतिक संकल्प के साथ अपने नये आधार क्षेत्रों में पहुंची।

लम्बे अभियान से येनान की मुक्ति तक

7. लम्बा अभियान उत्तरी शेन्सी क्षेत्र में महान दीवार पर जाकर खत्म हुआ। यह इलाका निर्जन और बंजर है। साथ ही यहां 3000 फुट से ऊंची चट्टानें भी हैं। जमीन इतनी उजाड़ और मिट्टी इतनी खराब थी कि यहां किसी के जिन्दा रहने की कल्पना करना भी मुश्किल था। लेकिन यहां बीस लाख लोग मक्खियों और चूहों से भरी कन्दराओं में रहते थे। इन किसानों ने, जो बेहद गरीब, अशिक्षित, भूखे और बीमार थे, माओ और लाल सेना का स्वागत किया जिसने उनके लिए एक नये भविष्य का सपना जगाया था।

1936 के अंत में माओ और उनकी सेना येनान चली गयी जिसे मुक्त शेन्सी-कान्सू-निंग सिया सीमा क्षेत्र की राजधानी घोषित कर दिया गया। यहीं पहाड़ काटकर बनी हुई तीन कमरों की वह ऐतिहासिक गुफा थी, जहां रहकर माओ ने चीनी क्रान्ति की समस्याओं पर सोचा, आगे का रास्ता निकाला और मार्क्सवादी विज्ञान को समृद्ध करने वाली कई कृतियां लिखीं। येनान में माओ ने लाल सेना और कम्युनिस्ट पार्टी के पुनर्निर्माण की तैयारी की, ताकि न सिर्फ जापान के विरुद्ध मुक्ति युद्ध को जीता जा सके बल्कि क्वोमिन्ताङ को हराने और पूरे चीन में शक्ति क्रान्तिकारियों के हाथ लेने की तैयारी की जा सके।

चीनी क्रान्ति के सांस्कृतिक सेनापति लू शुन (1881-1936) जो मानते थे कि कला और साहित्य को जनता के क्रान्तिकारी ध्येय की सेवा करनी चाहिए।

मातृभूमि की रक्षा के लिए प्रदर्शन कर रहे पीकिङ के छात्रों के जुलूस का एक दृश्य (16 दिसम्बर, 1935)

8. माओ ने नये आधार क्षेत्र बनाने और फैलाने के महत्व पर जोर देना जारी रखा जहां लाल सेना विकसित हो सके और किसानों का समर्थन प्राप्त किया जा सके। येनान एक मजबूत और सुरक्षित आधार बन गया जहां माओ एक लाख पार्टी कार्यकर्ताओं को शिक्षित, प्रशिक्षित और अनुशासित करते थे। और यहीं से माओ ने पूरे चीन में लाल सेना की टुकड़ियों का नेतृत्व किया।

हजारों किसान, मजदूर और बुद्धिजीवी चीन के हर हिस्से से येनान आये। उत्पीड़ित राष्ट्रीयताओं जैसे मंगोल, मुस्लिम, तिब्बती और नियाओ और लोलो कबीले के लोग भी आये। येनान आने के लिए इन सभी को क्वोमिन्ताङ और जापानियों की नाकेबंदियों, कांटेदार बाड़ों, और जालों से बचते-बचाते आना होता था। पकड़े जाने पर या तो वे मार दिये जाते या फिर यातना शिविरों में डाल दिये जाते। लेकिन लोग रोज अपने घर से येनान के खतरनाक रास्ते पर जाने के लिए निकल पड़ते थे क्योंकि यह उनके सामने एक खूबसूरत कल की नुमाइन्दगी करता था।

येनान में किशोर सैनिकों से बात करते हुए माओ त्से-तुङ, 1939

लम्बा अभियान

लाल सेना भयभीत नहीं होती
लम्बे अभियान की कठिन परीक्षाओं से।
चुटकियों में काबू कर लेती है वह
दस हजार चोटियों और प्रचण्ड वेगवाही नदियों को
पांच शिखर हैं उसके लिए
मद्धम हवा में छोटी-छोटी लहरों के समान,
तेजस्वी वुमेङ लुढ़कता है
मिट्टी के गोलों जैसा
सुनहले बालू के जल की गोद में
खड़ी दुर्गम चट्टानें गर्म लगती हैं।
ठण्डी प्रतीत होती हैं
लातू नदी के आर-पार की लोहे की जंजीरें।
मिनशान पर्वतमालाओं के बीच
हजारों ली का बर्फीला रास्ता
पार हो जाता है हंसते-गाते।
मार्च करती चली जाती हैं तीनों सेनाएं,
हर चेहरा दमकता है रक्ताभ!

—माओ त्से-तुङ, अक्टूबर, 1935

उत्तरी चीन में युवा कम्युनिस्ट स्वयंसेवकों की फौज (1937)

अगले अंक में पढ़िए :

येनान के मुक्त क्षेत्र में एक नये क्रान्तिकारी जीवन के निर्माण तथा जापानी साम्राज्यवाद विरोधी वीरतापूर्ण युद्ध चलाते हुए देश भर में क्रान्तिकारी आधार क्षेत्रों का विस्तार

राज कर रहे कफन खसोट-मुर्दाखोर

(पेज 1 से जारी)

लोगों को भी बहुत लाभ होगा। इससे अधिक क्रूर मजाक और क्या हो सकता है।

चिकित्सा के नाम पर सरकारी डकैती का अनुमान महज इसी बात से लगाया जा सकता है कि उत्तर प्रदेश में जहां पहले दो माह के लिए पर्चा बनवाने पर प्राथमिक व सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्रों पर एक रुपया और जिला चिकित्सालयों में दो रुपये लगता था, अब यह महज 15 दिनों के लिए क्रमश: दो और पांच रुपये कर दिया गया। इसके साथ ही, हर कदम पर बाजार की तरह पैसों की वसूली की जायेगी। जांच-पड़ताल, प्लास्टर से लेकर भर्ती होने तक भारी टैक्स जनता पर लाद दिया गया है। वह भी 10 प्रतिशत प्रति वर्ष और बढ़ता जायेगा। हालात ये पैदा हो गये हैं कि आम जनता को दवा-इलाज कराने की जगह मौत को गले लगाना ज्यादा मुनासिब होगा।

वैसे तो पहले से ही मुनाफाखोर सत्ताधारी संविधान में प्रदत्त अपनी बुनियादी जिम्मेदारियों से मुकर चुके थे, अब वे खुले आम यह ही साबित कर रहे हैं कि इस लुटेरी व्यवस्था में उन्हें ही जीने का अधिकार है जिनके पास अथाह पैसा है। यानी धनपशुओं के लिए तो सब कुछ है और व्यापक मेहनतकश आबादी के हिस्से में चुपचाप अपना खून-पसीना निचोड़वाना ही बदा है।

आज सत्ताधारियों की आम नीति का फ्रेम एकदम तय हो चुका है। तभी तो ऐसी तमाम महत्वपूर्ण फैसले, जो आम जिन्दगी को सीधे-सीधे प्रभावित करते हैं, को भी लागू करने के पहले उन्हें आम बहस में लाने या संसद में बहसबाजी की औपचारिकता भी पूरा करने की आवश्यकता नहीं रह गयी है, बस सीधे शासनादेश ज़ारी करके फैसलों को अमली जामा पहना दिया जा रहा है। चिकित्सा क्षेत्र में भी यही क्रिया दोहरायी गयी।

प्रदेश के शिक्षा मंत्री रमापति शास्त्री ने नयी चिकित्सा दरों की घोषणा करते हुए बड़े ही बेहयायी से कहा कि यदि तमाम जांचों-परीक्षणों के बाजार दर में कमी आती है तो सरकारी अस्पतालों के दर में भी आवश्यक संशोधन कर दिया जायेगा। यानी बाजार के अनुरूप अस्पताल व्यवस्था चलेगी। यही नहीं, जनता से इलाज के नाम पर अस्पतालों में जो धनउगाही होगी सरकार उसका 50 फीसदी राजकीय कोष में जमा करा लेगी, महज 50 फीसदी राशि ही अस्पतालों पर खर्च होगा। यानी मुनाफाखोर सरकार मरते हुए लोगों से भी पैसा वसूलकर अपना कोष बढ़ायेगी।

पूंजीवादी जनतंत्र का इससे बड़ा पाखण्ड भला और क्या हो सकता है कि सबको स्वास्थ्य-चिकित्सा की सुविधा मुहैया कराने का नारा तो विगत तिरपन वर्षों से लगातार लगाया जा रहा है और दूसरी ओर ऐसा पुख्ता इंतेज़ाम किया जा रहा है कि मज़दूर-किसान बहुसंख्यक आबादी तो दूर, औसत मध्यवर्ग भी सरकारी अस्पतालों में जाने की हिम्मत नहीं जुटा पायेगा। कहां गया संविधान में किया गया वह वायदा, कहां गयीं मानवाधिकार चार्टर की घोषणाएं, जिसमें सबके स्वास्थ्य की जिम्मेदारी के प्रति सरकार को वचनबद्ध बताया गया था?

सरकार की तमाम जन विरोधी अन्य नीतियों की तरह ही चिकित्सा नीति के प्रश्न पर सभी चुनावबाज पूंजीवादी पार्टियां और उनकी सहचरी नकली वामपंथी पार्टियां एकमत हो चुकी हैं। उत्तर प्रदेश में भी और केन्द्र में भी 'राष्ट्र भक्त' भाजपा गठबन्धन सरकारें वही कर रही है जो अन्य राज्यों की सरकारें कर रही हैं। बुनियादी तौर पर ये सभी पूंजीवादी पार्टियां एकमत हैं। अगर कहीं विरोध है, तो महज जनता को बरगलाने और सत्ता के केन्द्र में अपने को स्थापित करने के लिए है। यह तथ्य और ज्यादा खुलकर सामने आया है कि संसद-विधान सभाएं महज बहसबाजी के अड्डे हैं और सरकार पूंजीपतियों की "मैनेजिंग कमेटी" है। मुनाफे की अंधी हवस में देशी-विदेशी पूंजीवादी लुटेरे हर जगह से मुनाफा लूटना चाहते हैं – अस्पतालों से भी। सो सरकार उसी के अनुरूप नीतियां बना और लागू कर रही है।

उदारीकरण के वर्तमान दौर में स्थितियां एकदम साफ होती जा रही हैं। सभी "मानवीय" परदे उतरते जा रहे हैं। समाज में धनिकों और श्रमिकों के बीच एक गहरी खाई बनती जा रही है। एक तरफ बीस फीसदी ऊपर के लोगों के लिए सुख और समृद्धि के सारे साजो सामान जुटाये जा रहे हैं, उनकी अट्टालिकाएं खड़ी हो रही हैं, दूसरी तरफ अस्सी प्रतिशत व्यापक आबादी की जिन्दगी बद से बदतर होती जा रही है, गरीबों का कफन तक छीन लिया जा रहा है। चिकित्सा जैसी बुनियादी चीज को एकदम बाजारू माल बना देने का सरकारी निर्णय इसी सच्चाई को एक बार फिर सही साबित करता है।

ये समस्यायें देश को कहां ले जा रही हैं, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। क्या ऐसी मानवद्रोही व्यवस्था का समूल नाश नहीं कर देना चाहिए जो जनता को आवास, कपड़ा, भोजन, चिकित्सा और शिक्षा जैसी बुनियादी ज़रूरतों से भी वंचित कर रही हो?

उ.प्र. की नयी चिकित्सा दरें

मद (विवरण)	O.P.D जनरलवार्ड	पेईंग वार्ड	प्राइवेट वार्ड
पंजीकरण शुल्क-ग्रामीण	2/- (15 दिन)		
शहरी	5/- (15 दिन)		
भर्ती शुल्क -ग्रामीण	10/-		
शहरी	25/-		
प्रतिदिन भर्ती शुल्क	5/- (चौथे दिन से)	25/-	50/- 75/- 125/-एयरकूलिंग 250/- ए.सी.
प्रतिदिन हीटर इस्तेमाल	20/-	20/-	20/-
रोगी आहार प्रतिदिन	–	100/-	100/-
प्राइवेट मेडिकोलीगल केस	50/-	50/-	50/-
कुछ खास जांचों के शुल्क	60/-	100/-	150/-
कैट स्कैन हैड	600/-	675/-	750/-
होल बाडी स्कैन	1000/-	1100/-	1200!-
इण्डोस्कोपी आदि	100/-	150/-	250/-
रेडियो थिरैपी	25/-	50/-	75/-
रोलोग्राफी	150/-	175/-	200/-
वैन्टीकुलोग्राफी	100/-	150/-	200/-
थर्मोग्राफी/मोमोग्राफी	50/-	75/-	100/-
प्लास्टर व सामान्य सर्जरी	50/-	100/-	150/-
एब्डामिनल, लैप्रोटामी आपरेशन	200/-	300/-	500/-
रोगी वाहन शुल्क	5/- रु. प्रति किलोमीटर, अधिकतम 50/- रुपये		

अब गुर्दा बेचने को मज़बूर किसान

(पेज 1 से जारी)

को बेंच दिये जो मानव अंगों का ही व्यापार करता है। वैसे रेंटाचिंतल सहित खंभमपडु और मचेरला गांवों के 100 से ज्यादा गरीब किसान कर्ज के बोझ से मुक्ति के लिए अपने गुर्दे बेंच चुके हैं। इसके अतिरिक्त सैकड़ों अन्य किसान भी अपने गुर्दे बेंचना चाहते थे तथा अपने चिकित्सकीय परीक्षण के लिए हाजिर भी हुए थे।

कृष्ण नदी के तट पर बसे इन तीनों गांवों के इलाके अक्सर सूखा ग्रसित रहते हैं। मजेदार बात यह है कि इन गांवों के बीच से मशहूर नागार्जुन बांध से निकली एक नहर भी गुजरती है। यहां के तीन चौथाई किसान भूस्वामियों से नकद लगान पर जमीन लेकर खेती करते हैं। लगातार तबाह होती खेती ने यहां के गरीब लोगों को इस मुकाम पर पहुंचा दिया है कि राशन की दुकान से अनाज तक खरीदने को पैसा इनके पास नहीं है। निराशा के समुन्दर में गोते लगाते ये गरीब किसान आत्महत्या करने अथवा गुर्दा बेंचकर किसी तरह जिन्दगी चलाने के लिए अभिशप्त हैं।

दिसम्बर 1997 में तेलंगाना के किसानों ने कपास की फसल में 'बोलवॉर्म' के भीषण प्रकोप से पछाड़ खाकर, उन कीटों पर बेअसर रहे कीटनाशकों का सेवन कर अपनी जिन्दगी को समाप्त करने वाला आत्महत्या जैसा अत्यन्त पीड़ादायी काम को अंजाम देना शुरू किया था। इस मुद्दे पर तत्कालीन व्यवस्था के पुर्जों ने तमाम फौरी तथा धूर्ततापूर्ण कारण सुझाने शुरू कर दिए थे। यह कोई असामान्य घटना नहीं है बल्कि मौजूदा व्यवस्था की स्वाभाविक गति है। आज के दौर में विज्ञान और वैज्ञानिक क्रान्तिकारी संभावनाओं से शून्य सामाजिक सरोकारों से परे, मात्र पूंजीवाद के भाड़े के लठैत हो गए हैं।

आज भी किसानों की आत्महत्याओं का दौर थमा नहीं है। फसल खराब होने, कर्जे की अदायगी में असफलता, सम्पत्तिहीनता की वजह से सामाजिक प्रतिष्ठा में ह्रास आदि कारणों से दिसम्बर 1997 में आन्ध्र प्रदेश से शुरू हुआ किसानों की आत्महत्याओं का सिलसिला कर्नाटक, महाराष्ट्र, पंजाब, उत्तर प्रदेश हर जगह फैल चुका है। इन आत्महत्याओं के आर्थिक और सामाजिक पहलुओं की पड़ताल करने वाला जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय शोधकर्त्ताओं का समूह यह साफ तौर पर मानता है कि इनकी मुख्य वजह मुद्रास्फीति तथा आर्थिक उदारीकरण है। इसी सन्दर्भ में बात करते हुए प्रख्यात समाजशास्त्री आशीष नन्दी कहते हैं "अब किसान संगठित होकर रैलियां और धरने नहीं करते हैं बल्कि वे चुपचाप आत्महत्या कर लेते हैं।"

गौरतलब है कि इन आत्म हत्याओं के दौरान ही न केवल आन्ध्र प्रदेश में विधान सभा चुनाव संपन्न हुए बल्कि इस दुर्गति के लिए सीधे जिम्मेदार व्यवस्था पोषक व नायक चन्द्र बाबू नायडू फिर से प्रचण्ड बहुमत के साथ सत्ता पर सवार हुए। मास-मीडिया के मूढ़ चन्द्र बाबू नायडू की चुनावी सफलता का श्रेय उनके "सुशासन" और तकनीकी लटकों-झटकों को देते हैं और उन्हें 'साइबराबाद' का मुख्य कार्यकारी मानते हैं जो अपनी सरकार को सूचना व संचार तंत्र द्वारा चलाना चाहते हैं।

दरअसल कोई भी प्रौद्योगिकी हो – संचार, सूचना या चिकित्सा – आज सभी वैज्ञानिक कार्य कलाप पूंजी के चाकर हो चुके हैं। यही वजह है कि एक चिकित्सक, मात्र भुगतान पाने पर तनिक भी सोचे बिना न केवल गुर्दे निकाल देता है बल्कि व्यापारी के लिए पैक भी कर देता है मानो यह मुर्गी के अण्डे हों। यहां तक कि एक ही प्रौद्योगिकी पूंजीवादी व्यवस्था के विविध पायदानों पर खड़े लोगों जैसा विभिन्न बर्ताव करती है। यही वजह है कि हैदराबाद को 'साइबराबाद' बनाने वाली बुनियादी सुविधा-बिजली की 'लो वोल्टेज' आपूर्ति ही कुछ किसानों को आत्म हत्या के लिए मजबूर कर चुकी है।

एक बार फिर यही तथ्य साफ तौर पर उभरता है कि पूंजी की दुम से बंधा विज्ञान मानवीय संवेदना शून्य अन्ततः जन विरोधी ही हो सकता है।

– नमिता

आत्महत्या की जगह इस हत्यारी व्यवस्था को खत्म करो!

(पेज 1 से जारी)

को गले लगा लिया।

निश्चित रूप से इन आत्महत्याओं के पीछे वे जनविरोधी-मानवद्रोही नीतियां हैं जो मुनाफे की अंधी हवस में आम आदमी को महज एक उपभोग की वस्तु समझता है और जिसको वह निचोड़ने के बाद सड़कों पर मरने के लिए छोड़ देता है। भूमण्डलीकरण के इस दौर में उदारीकरण व निजीकरण की नीतियों ने जहां एक तरफ कुछ प्रतिशत लोगों की पूंजी में बेतहाशा वृद्धि की है वहीं भारी मेहनतकश आबादी दो वक्त की रोटी तक की मोहताज है। समाज में अमीरी-गरीबी की खाई लगातार बढ़ती जा रही है, लोगों में निराशा और कुण्ठाएं घर कर रही हैं, सामने अंधेरा नज़र आ रहा है और लोगों से जीने तक का अधिकार छीना जा रहा है। ऐसे में चन्द्रकांत जैसे लोग आत्महत्या करने पर मजबूर हो रहे हैं।

लेकिन इसका समाधान खुद को ही खत्म कर लेना तो नहीं हो सकता। इसकी जिम्मेदार तो यह हत्यारी व्यवस्था है, तो क्यों न खुद इस हत्यारी व्यवस्था को खत्म कर दिया जाए। समस्याओं से मुंह मोड़ लेने से समस्याएं खत्म नहीं हो जाती। शुतुरमुर्ग की तरह रेत में मुंह छुपा लेने से तूफान टला नहीं करते। तूफानों से लड़ने का माद्दा पैदा करना पड़ता है। जो व्यवस्था जनता को जीने तक का अधिकार नहीं देती उसका एक-एक दिन जीवित रहना नुकसानदेह है। मुनाफा केन्द्रित इस व्यवस्था को खत्म करके ही मानव केन्द्रित समाज की स्थापना हो सकती है। तो क्यों न एक बेहतर इंसानी समाज के निर्माण में अपने प्राणों की आहुति दी जायें।

राहुल फाउण्डेशन की महत्वपूर्ण प्रस्तुति

अक्टूबर क्रान्ति और लेनिन

सोवियत समाजवादी क्रान्ति की तैयारी से लेकर बाद के दौर तक वहां उपस्थित रहकर युगान्तरकारी घटनाओं के साक्षी रहे अमेरिकी पत्रकार एल्बर्ट रीस विलियम्स की दो दुर्लभ कृतियां –

'रूसी क्रान्ति के दौरान' तथा 'लेनिन: व्यक्तित्व और कार्य'

एक ही जिल्द में हिन्दी पाठकों और मजदूर साथियों के लिए विशेष रूप से
साथ ही रीस विलियम्स का परिचय

मूल्य – रु. 75/- (पेपर बैक) रु. 150/- (सजिल्द)

प्राप्त करें : जनचेतना 3/274 विश्वासखण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ-226010

जनता के महान लेखक प्रेमचन्द के जन्मदिवस (31 जुलाई) के अवसर पर उनका एक प्रासंगिक लेख

सरकारी खर्चे में किफायत

घर में आग लगी हुई है और सरकार किफायत करने के संयुक्त बांध रही है। महीनों कमेटी ने विचार किया, महीनों गवर्नमेंट विचार करेगी, तब महीनों के बाद किफायत शुरू होगी और किफायत भी क्या? छोटे-छोटे अमले निकाल दिये जायंगे; ऊंचे ओहदेदार चैन करते रहेंगे। राष्ट्र आखिर इसीलिए तो है, कि वह मरे और सरकारी कर्मचारी चैन करें। अगर आमदनी में कमी हो रही है, तो कोई चिन्ता की बात नहीं। मनमाने कर बढ़ाये जा सकते हैं। रेल का किराया चौगुना कर दो, जिसे हजार बार गरज होगी, सफर करेगा। डाक के महसूल चौगुने कर दो, जिसे हजार बार गरज होगी, डाकखाने में जायेगा। आखिर डाक का काम तो रुक नहीं सकता। अभी कर वृद्धि के लिए बहुत बड़ी गुंजाइश है। 100 रु. साल की आमदनी पर भी कर लगाया जा सकता है। प्रजा रोयेगी, रोये, सरकार का खर्च तो पूरा हो जायगा। गरीब से गरीब मुल्क का खर्च अमीर से अमीर मुल्क से बढ़ न जाय, तो बात ही क्या रही। आखिर भारत को मालूम कैसे होगा कि हम पराधीन हैं। इंग्लैंड का बादशाह अपने खर्च में कमी कर दे, आनन-फानन वज़ीर से लेकर नीचे तक पन्द्रह फीसदी वेतनों में कमी हो जाय, पर भारत में ओहदेदारों का वेतन कैसे घटाया जा सकता है? उसका नाम लेना भी जुर्म है। भला फौज के खर्च में इससे ज्यादा कमी क्या हो सकती है! स्टेशनरी का खर्च कम कर दिया, बिजली का खर्च कम कर दिया, अब और क्या चाहिए। उधर प्रजा है कि भूखों मर रही है, न खाने को अन्न है न तन ढांकने को वस्त्र। जो कुछ उपज हुई थी, वह लगान में गयी। कितने ही घरों में तो लोटा-थाली और गहने जेवर भी लगान की भेंट हो गये। पर खर्च में कमी नहीं हो सकती। गरीबों को एक जून भी ज्वार की रोटी न मयस्सर हो, पर हमारे साहबों को मक्खन और अंडे और शराब और अंगूर-अनार दिन में पांच बार चाहिए। संसार मरे, हम तो जीते हैं। यही पश्चिमी सभ्यता है। कितना दुःख होता है, जब हम देखते हैं, कि हमारी सरकार को देश की परिस्थिति की बिल्कुल चिन्ता नहीं। उसे तो डंडे का बल है। किसान आप मरेगा और लगान अदा करेगा, वरना डंडे से खबर ली जायगी। उसे इतना ही जिंदा रहना चाहिए कि वह मरकर खेत जोत-बो सके। इससे ज्यादा जिन्दा रहने की उसे ज़रूरत नहीं। ईश्वर की दया से आबादी भी कम नहीं। अगर दस-पांच करोड़ आदमी मर भी जायं, तो क्या चिन्ता। ज़मीन परती नहीं रह सकती, और लगान फिर भी वसूल हो ही जायगा, कर मिल-ही जायगा। अगर कमी की ऐसी ही ज़रूरत होगी तो मदरसे तोड़ दिये जायंगे, शफाखाने बंद कर दिये जायंगे या लड़कों की फीस दुगनी कर दी जायगी, और शफाखाने दवाओं की दूकान बना दिये जायंगे। बीमारी के लिए तो कहीं खोजने नहीं जाना है, और लड़कें भी मदरसे आवेंगे ही। और न आवें तो सरकार का क्या बिगड़ता है। उससे लगान और कर में कोई कमी नहीं होती।

अगर यह दशा न होती तो स्वराज्य की कामना ही क्यों जन्म लेती।

अक्टूबर 1931

श्रम के सौन्दर्य और गरिमा के कवि केदारनाथ अग्रवाल को लाल सलाम

जनकवि केदारनाथ अग्रवाल के निधन पर उनकी तीन प्रसिद्ध छोटी कविताएं हम यहां प्रस्तुत कर रहे हैं

जो जीवन की धूल चाटकर बड़ा हुआ है
तूफानों से लड़ा और फिर खड़ा हुआ है
जिसने सोने को खोदा, लोहा मोड़ा है
वह रवि के रथ का घोड़ा है
वह जन मारे नहीं मरेगा, नहीं मरेगा

❑

मैंने उसको जब-जब देखा
लोहा देखा
लोहे जैसे तपते देखा
लोहे जैसे गलते देखा
लोहे जैसे ढलते देखा
मैंने उसको जब-जब देखा
गोली जैसे चलते देखा

❑

गांवों में थाने
और थानों में सिपाही हैं,
थानों के जियाए
राजतंत्र के सिपाही हैं
जनता को मिटाए
मारतंत्र के सिपाही हैं।

गरीबी से तंग चंद्रकांत ने अपने को परिवार सहित खत्म कर लिया

आत्महत्या की जगह इस हत्यारी व्यवस्था को खत्म करो!

कविता

गरीबी और बेरोजगारी से तंग आकर तीस साल के चंद्रकांत ने अपनी पत्नी और चार बच्चों को ज़हर देकर खुद पंखे से लटक कर खुदकुशी कर ली। अपने मृत्युलेख में उसने लिखा था कि उसकी मौत के लिए कोई भी जिम्मेदार नहीं है। मैं पारिवारिक समस्याओं और बेरोजगारी से तंग आकर आत्महत्या कर रहा हूं। वह यह जानता था कि इसके सिवा उसके पास और कोई रास्ता नहीं है, क्योंकि रोज-रोज अपनी पत्नी और बच्चों को भूखे पेट सोते नहीं देख सकता था, और उसके पास एक ही रास्ता बचा था और वह था मौत को गले लगाना।

चंद्रकांत पहले रेहड़ी लगाया करता था। दिल्ली में हजारों लोगों की आजीविका का यही साधन है। लेकिन धनपशुओं की सरकार के लिए यह "गन्दगी" पसन्द नहीं है, सो खूबसूरत "राष्ट्र" की इस "गन्दगी" की सफाई जरूरी है। इसी सफाई यानी 'अतिक्रमण हटाओ अभियान' के तहत उसकी रेहड़ी हटा दी गयी। इसके बाद बड़ी मशक्कत से उसने एक फैक्ट्री में काम शुरू किया, लेकिन उसके खुदकुशी के महीने भर पहले यह फैक्ट्री बन्द हो गयी थी और वह इन दिनों बेरोजगार था। चंद्रकांत बेकारी को अपनी किस्मत मान बैठा था। वह यही मानता था कि इस समाज में केवल सबल लोगों को जीने का हक है। निराशा और पस्तहिम्मती के बीच जीते हुए अपने पूरे परिवार सहित खुद को खत्म कर लेने के अलावा कोई अन्य रास्ता नहीं दिखा।

चंद्रकांत अपने मृत्युलेख में लिखता है कि उसकी मौत का कोई जिम्मेदार नहीं है, लेकिन शायद उसे यह मालूम नहीं था कि उसकी मौत के वे ही जिम्मेदार हैं जो इस देश की तरक्की के नाम पर नई आर्थिक नीतियां और उदारीकरण की नीतियां लागू कर रहे हैं, मुनाफे की अंधी हवस के लिए लोगों से रोजगार के अवसर छीन रहे हैं। जब देश में गणतांत्रिक सँविधान लागू हुआ तभी सभी सरकारों को संविधान के अनुच्छेद 39 के तहत यह बता दिया गया था कि राज्य अपनी नीति का विशिष्टतया इस प्रकार संचालन करेगा कि सुनिश्चित रूप से –

(क) पुरुष और स्त्री सभी नागरिकों को समान रूप से जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार हो;

(ख) समुदाय के भौतिक संसाधनों का स्वामित्व और नियंत्रण इस प्रकार बंटा हो जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो;

(ग) आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले जिससे धन और उत्पादन के साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी संकेन्द्रण न हो;

(घ) पुरुषों और स्त्रियों दोनों का समान कार्य के लिए समान वेतन हो;

(ङ) पुरुष और स्त्री कर्मकारों के स्वास्थ्य और शक्ति का और बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न हो और आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर नागरिकों को ऐसे रोजगारों में न जाना पड़े जो उनकी आयु या शक्ति के अनुकूल न हो;

(च) बालकों को स्वतंत्र और गरिमामय वातावरण में स्वस्थ विकास के अवसर और सुविधाएं दी जाएं और बालकों और अल्पवय व्यक्तियों की शोषण से तथा नैतिक और आर्थिक परित्याग से रक्षा की जाए।

इसके बाद अनुच्छेद 41 में यह निर्देश दिया गया था कि राज्य अपनी आर्थिक सामर्थ्य और विकास की सीमाओं के भीतर काम पाने के, शिक्षा पाने की और बेकारी, बुढ़ापा, बीमारी और निशक्तता तथा अन्य अभाव की दशाओं में लोक सहायता पाने के अधिकार को प्राप्त कराने का प्रभावी प्रबंध करेगा।

इन दोनों ही उपबन्धों के अनुसार चंद्रकांत और उसके परिवार को राजकीय सहायता प्राप्त करने का अधिकार था, लेकिन ऐसा नहीं हो सका, क्योंकि जिस तरह से ये मुनाफा केन्द्रित पूरा तंत्र चल रहा है इसमें सम्भव ही नहीं है कि भारतीय राज्य आम जनता को किये गये अपने संवैधानिक वायदों को निभा सके। बल्कि आधी सदी में ही उसने अपने वायदों को धूल-धूसरित कर दिया है, जिम्मेदारियों से मुकर चुकी है।

चंद्रकांत ने अपने परिवार समेत एक ऐसे राज्य में आत्महत्या की जो इस देश की राजधानी है और जिसकी प्रति व्यक्ति आय देश में सबसे ज्यादा है। फिर क्यों नहीं वह लोगों को भूखे मरने से रोकती है? लेकिन सरकार का काम तो नये-नये जन विरोधी कानूनों को बनाने, दिल्ली को सुन्दर बनाने के नाम पर अतिक्रमण अभियान चलाने (ताकि जो भी उनकी रोजी रोटी का सहारा है उसे भी छीना जाए) और फ्लाई ओवरों का निर्माण, (ताकि अमीरजादों की गाड़िया फर्राटे से बेरोकटोक दौड़ सकें) करना है।

चंद्रकांत गरीबी और बेरोजगारी से तंग आकर आत्महत्या करने वाला पहला व्यक्ति नहीं है। सच्चाई तो यह है कि आत्महत्याओं की घटनाएं इधर लगातार बढ़ती ही चली गयी हैं। पिछले दो-तीन सालों में सैकड़ों किसान-मजदूर आर्थिक बदहाली से तंग आकर आत्महत्या करने पर मजबूर हुए हैं। पिछले दिनों बुन्देलखण्ड में लगभग 400 मजदूरों ने आर्थिक बदहाली से तंग आकर आत्महत्या की थी। अभी हाल ही में मध्यप्रदेश में करीब छः दिहाड़ी मजदूरों ने आत्महत्या कर ली। यह मुख्यमंत्री दिग्विजय सिंह के 1988 के बाद काम पर लगाए गये 30,000 दिहाड़ी मजदूरों से छुटकारा पाने के विवादित निर्णय का परिणाम था। आर्थिक बदहाली से तंग आंध्रा के 100 किसान अपना एक गुर्दा बेचने के लिए अभिशप्त हो गये। आंध्रप्रदेश, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र से लेकर देश के विभिन्न हिस्सों में किसानों-मजदूरों की आत्महत्याएं की घटनाएं लगातार बढ़ती ही जा रही हैं।

'राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो' (एन.सी.आर.बी.) द्वारा तैयार किए गए एक सर्वे रिपोर्ट के तहत देश में प्रत्येक एक लाख की आबादी पर औसतन 10.3 लोग आत्महत्याएं कर रहे हैं। एन.सी.आर.बी. के अनुसार 1997 में देश में आत्महत्या की 95,229 घटनाएं प्रकाश में आयी जिनमें से 8,961 घटनाएं महज केरल में हुयी हैं। ये वो घटनाएं हैं जो कहीं न कहीं दर्ज होंगी। इनसे काफी ज्यादा वो घटनाएं हैं जो कहीं भी दर्ज नहीं होती हैं। ये आंकड़े वास्तविकता से बहुत पीछे है, फिर भी ये आंकड़े कुछ बताते हैं।

पिछले दिनों भारत सरकार द्वारा प्रकाशित 'स्टैस्टिकल पाकेट बुक इण्डिया 1998' में भूख और प्यास से होने वाली मौत तथ आर्थिक विषमताओं, बेकारी, गरीबी से तंग आकर आत्महत्याओं के आंकड़े दिये हैं। मजे की बात तो यह है कि सरकारी प्रकाशन इन मौतों को प्राकृतिक मौतों में गिनता है।

पुस्तक में बताया गया है कि 1995 में देश में भूख और प्यास से मरने वालों की संख्या 183 थी जो 1996 में बढ़कर 442 हो गयी, यानी एक वर्ष में ढाई गुने की वृद्धि। पुस्तक के अनुसार देश में विभिन्न कारणों से आत्महत्या करने वालों की संख्या 1994 में 4,446, 1995 में 6,178 और 1996 में 5,120 थी। और तथ्य यह भी है कि इस दौर में कोई प्राकृतिक आपदा नहीं घटित हुयी। ये मौतें 1997 के बाद लगातार बढ़ती ही गयी है।

भारत में गरीबी पहले भी थी लेकिन निराशा और कुंठा इस हद तक नहीं थी कि लोग आत्महत्याएं करने पर मजबूर हों, कारण एक तो आर्थिक विषमता कम थी, दूसरे उनकी पारिवारिक सुरक्षा काम आती थी। लेकिन आधुनिक जीवन शैली में इस तरह का सुरक्षात्मक रवैया खत्म हो रहा है और नई सुरक्षा व्यवस्था पैदा नहीं हुयी है। चंद्रकांत का भी संयुक्त परिवार था लेकिन उनके बीच वो अकेला था, और नहीं जानता था कि वो अपना और अपने परिवार का भरण पोषण कैसे करेगा? और उसने मौत

(पेज 10 पर जारी)

जीने के अधिकार पर एक और हमला

(पेज 1 से जारी)

1980 में दोबारा सत्ता में आने के बाद से इन्दिरा गांधी सरकार ने तरह-तरह के निरंकुश कानूनों से चाक-चौबन्द होना शुरू कर दिया। 'मीसा' की जगह 'रासुका' लाया गया, संविधान में पुन: संशोधन हुआ और अन्य अनेक निरंकुश दमनकारी कानून बनाये गये ताकि ज़रूरत पड़ते ही बगैर घोषणा के क्रमश: आपातकाल जैसी स्थिति ला दी जाय। 1984 में राजीव गांधी सरकार ने इस सिलसिले को और तेजी से आगे बढ़ाया और एक के बाद एक कई काले कानून बनाये। 'राष्ट्रीय सुरक्षा कानून तथा आतंकवाद निरोधक अधिनियम (1984) के बाद 'आतंकवाद निरोधक अधिनियम' (1985) (टाडा कानून), उनसठवां संविधान संशोधन के तहत पंजाब के बहाने देश के किसी भी भाग में आपातकाल घोषित करने का अधिकार सुरक्षित कर लिया गया। और तबसे एक के बाद एक काले कानूनों को लागू करने की झड़ी सी लग गयी है।

अपने गठन के दस वर्ष बाद टाडा कानून को 1995 में जनदबाव के कारण सत्ताधारियों को समाप्त करना पड़ा था। लेकिन चन्द महीने बाद ही 'क्रिमिनल सेफ्टी बिल' के नाम से इसी कानून का नया संस्करण लाने का असफल प्रयास हुआ। कोयम्बटूर बम विस्फोटों के बाद तमिलनाडु सरकार ने 'प्रिवेंशन ऑफ टेररिज्म एक्ट' (पोटा) और इसी तर्ज पर आंध्र प्रदेश की सरकार ने भी एक नया विधेयक लाने की कोशिश की। जन प्रतिरोध के कारण ये सरकारी मंसूबे तो ध्वस्त हो गये परन्तु भाजपा-शिवसेना की महाराष्ट्र सरकार ने टाडा के ही तर्ज पर 'महाराष्ट्र कंट्रोल ऑफ आर्गनाइज्ड एक्ट' (मोक्का कानून) को अप्रैल 1999 में लागू कर दिया।

अब एक बार फिर टाडा से भी खतरनाक 'आपराधिक कानून संशोधन बिल' (सी.एल.ए.) को लागू करने की तैयारी फासिस्ट भाजपा गठबन्धन सरकार कर चुकी है। एक ऐसा कानून जिसमें किसी भी प्रकार के विरोध या असहमति तक को अपराध की संज्ञा दी जा सकती है। प्रस्तावित नया कानून आपराधिक न्याय प्रणाली में मौजूदा बचाव के सभी रास्ते बंद कर देगी। इस कानून के तहत जिन लोगों पर अभियोग लगाया जायेगा, उनके दोष के बारे में धारणाओं को महत्वपूर्ण बना दिया जायेगा। इसके तहत पुलिस हिरासत में दिये गये इकबालिया बयान को बतौर सबूत स्वीकार्य बना दिया गया है।

प्रस्तावित सी.एल.ए. बिल के तहत अभियुक्त को बिना किसी आरोप के 30 दिनों तक पुलिस हिरासत और छह माह तक जेल में रखा जा सकता है। पुलिस को आरोप पत्र भी दाखिल करने की आवश्यकता नहीं है। अभियुक्त निर्दोष साबित होने तक दोषी होगा। जमानत के अधिकार पर भी प्रतिबंध लगा दिया गया है। जमानत तभी होगी जब न्यायालय अभियुक्त को "तर्कसंगत" आधार पर निर्दोष पाये। इसमें मुकदमे की पूरी प्रक्रिया ही प्राकृतिक न्याय और निष्पक्ष मुकदमे के हर सिद्धान्त के खिलाफ है। यही नहीं सेशन कोर्ट द्वारा सजा देने के बाद अभियुक्त को उच्च न्यायालय में अपील का अधिकार नहीं होगा। इस नये कानून के तहत कार्यपालिका को नियम बनाने, सजा तय करने, कार्यविधि तय करने, सम्पत्ति जब्त करने तक का अधिकार होगा।

इस नये कानून के तहत आतंकवादी गतिविधियां उन्हें माना गया है, जिनकी मंशा (1) सरकार को आतंकित करने की हो; (2) लोगों के मन में आतंक पैदा करने की हो; (3) विभिन्न समुदायों के बीच आपसी मेलजोल बिगाड़ने की हो अथवा (4) भारत की एकता, अखण्डता, सुरक्षा या प्रभुसत्ता को खतरा पहुंचाने की हो। अर्थात प्रत्येक वह नागरिक जो सरकार के किसी भी कार्य का विरोध या टीका-टिप्पणी करेगा, वह इस नये कानून की गिरफ्त में आ जायेगा। यह प्रस्तावित कानून कितना खतरनाक है इसका अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि साधारण कानूनों के तहत दंडनीय अपराधों में मंशा जोड़ने भर से गिरफ्तारी, कैद, अभियोग और अपील सभी के लिए अलग न्यायिक मशीनरी और एक अलग आपराधिक कार्यप्रणाली इस्तेमाल की जाएगी और अंत में सजा भी होगी। और ऐसी मंशा को साबित किया जाना भी ज़रूरी नहीं है।

इस खतरनाक कानून को लागू करने के पीछे भाजपा सरकार का रवैया कितना निरंकुश और स्वेच्छाचारी है कि वह तमाम प्रबल जनविरोधों के बावजूद और बुर्जुआ पत्र-पत्रिकाओं में लगातार लिखे जाने के बावजूद इसे लागू कर रही है। नये कानून को मानवीय बनाने की तमाम कोशिशों के बावजूद वह अपनी बदनीयती छिपा नहीं पा रही है।

दरअसल सी.एल.ए. और इस जैसे तमाम काले कानूनों के पीछे सरकार की मंशा है कि जैसे ही कोई आन्दोलन अपने लिए खतरनाक लगने लगे, उसे अपने सभी हरबा-हथियार के खुले खेल के द्वारा कुचल डाला जाये। पूरे देश में एक साथ आपातकाल लगाने का अंजाम सत्ताधारी देख चुके हैं और वे जानते हैं कि यदि फिर ऐसा हुआ तो इस बार जनता दो साल भी बर्दाश्त नहीं करेगी। आपातकाल से सत्ताधारियों ने यह सबक निकाला है कि देशव्यापी आन्दोलनों की स्थिति आने ही न दी जाये बल्कि किसी भी हिस्से में आन्दोलन उठते ही कुचल दिया जाये।

आज जो जनविरोधी आर्थिक नीतियां लागू हो रही हैं उससे आम जनता की तबाही-बर्बादी काफी बढ़ गयी है। आम जनता के भीतर व्यापक आक्रोश व्याप्त है और वह संघर्षों के लिए कमर कस रही है। बढ़ती महंगाई, बेरोजगारी, अराजकता से तबाह जनता के आन्दोलन बिखरे हुए हैं लेकिन थम नहीं रहे हैं। एक लड़ाई टूटती है तो तत्काल दूसरी लड़ाई शुरू हो जाती है। इस सबने सरकार में बैठी देशी-विदेशी पूंजीपतियों की वफादार चाकरों की मण्डली की नींद हराम कर दी है। सरकार आज रत्ती भर भी जोखिम उठाने को तैयार नहीं है। दमन-उत्पीड़न के असीमित अधिकार, पुलिस और अर्द्धसैनिक बलों को मनमानी की खुली छूट भी इसे चैन नहीं दे पा रहे हैं। अपने विरोध को कुचलने के लिए यह किसी भी हद तक जाने के लिये तैयार हो चुकी है।

आम जनता इस सारी नौटंकी को नफरत भरी नज़रों से देख रही है और नपुंसक विपक्ष की कारगुजारियों से भी वह ऊब चुकी है। लेकिन किसी क्रान्तिकारी विकल्प के अभाव में वह किंकर्तव्य विमूढ़ है। ऐसे में चिन्तनशील लोगों का दायित्व काफी बढ़ जाता है। उन्हें जल्द से जल्द खुद को संगठित करने और फिर आम मेहनतकश अवाम को संगठित करने के काम में जुट जाना होगा। आज एक बार फिर, मेहनतकश के सचेत तबके को न केवल संगठित होना है बल्कि संघर्ष को सही दिशा देने और उसके कार्यक्रम की सही रूपरेखा तैयार करने की जिम्मेदारी भी उसी के कन्धों पर है। एक देश व्यापी क्रान्तिकारी संघर्ष संगठित करने में जितनी ही देर होगी, जनता का दमन-उत्पीड़न उतना ही बढ़ता जायेगा।

प्रस्ताविक आपराधिक कानून संशोधन बिल मात्र एक कानून नहीं, एक अशुभ संकेत है। देश के राजनीतिक क्षितिज पर उभरता एक खतरनाक धूमकेतु है। यह सभी जागरूक लोगों के लिए एक चेतावनी है।

कड़े कानून के कड़वे सच

30 जून 1994 तक टाडा के तहत गिरफ्तार लोगों की संख्या 76.000 पर पहुंच गई थी। इनमें से 25 प्रतिशत मामले पुलिस ने खुद ही खत्म कर दिए क्योंकि वह इनमें आरोप दाखिल नहीं कर पाई। जिन मामलों में मुकदमे चले उनमें से केवल 35 प्रतिशत में फैसला हुआ। इनमें से 95 प्रतिशत मुकदमों में अभियुक्त बरी हो गए। इस तरह अंतत: गिरफ्तार हुए कुल लोगों में से केवल 1 प्रतिशत को सजा हुई।

(स्रोत : गृहमंत्रालय)

❑

टाडा के वापिस लिए जाने के दो साल बाद 1997 में, टाडा के अंतर्गत तब तक बंद लोगों की संख्या 4.528 थी। इनमें से 6 प्रतिशत मामलों में आरोप वापिस ले लिए गए थे। साल के अंत तक सिर्फ 5 प्रतिशत मामलों में चालान दाखिल हुए थे और 90 प्रतिशत मामलों में अभी तहकीकात ही पूरी नहीं हुई थी। इस साल में टाडा अभियुक्तों की संख्या 6.709 थी। केवल 6 प्रतिशत मामलों में मुकदमों में फैसले हुए थे। इनमें से 65 प्रतिशत मामलों में अभियुक्त बरी हो गए थे। यानि जिन पर मुकदमे चले उनमें से केवल 2.5 प्रतिशत को सजा हुई थी।

जम्मू और कश्मीर में टाडा के तहत 20.000 मामले दर्ज हुए। किसी को भी सजा नहीं हुई। 11.000 मामले शुरूआती तहकीकात के बाद खारिज हो गए। 2.000 सी.आर.पी.सी. की धारा 169 के तहत सबूतों के अभाव में खारिज हो गए। 1400 लोगों को पैरोल पर छोड़ा गया और 1.500 की जमानत हो गई। 1504 आतंकवादियों पर चल रहे 778 मामले अभी लंबित हैं।

(पी.यू.डी.आर. बुकलेट से साभार)

क्या आप आतंकवादी हैं?

इस नए कानून के तहत आप भी आतंकवादी करार दिए जा सकते हैं। अगर . . .

- एक पत्रकार, जो किसी प्रतिबंधित संगठन के नेता का साक्षात्कार लेने के बाद स्रोत बताने से इनकार करे।
- एक व्यक्ति, जो सरकार के किसी अप्रिय कदम को वापस लिए जाने की मांग के समर्थन में पर्चे बांट रहा हो।
- एक फिल्मकार, जो जेलों और जेलों के हालात पर बनाई जा रही श्रृंखला के हिस्से के रूप में टाडा बंदियों की दयनीय स्थिति पर फिल्म बनाए।
- रेलवे कर्मचारी, जो रेल विभागों के निजीकरण की कोशिश के खिलाफ काम रोके।
- हड़ताली सरकारी कर्मचारी, जो किसी कर्मचारी को हड़ताल तोड़ने से जबर्दस्ती रोकने की कोशिश करे।
- एक पुस्तक विक्रेता, जो ऐसी किताब रखे जिसमें लोगों की राष्ट्रीयता की आकांक्षा के पक्ष में बात की गई हो।
- एक वकील, जो किसी प्रतिबंधित संगठन के तथाकथित सदस्यों के बचाव के लिए पैरवी करे।
- कोई व्यक्ति, जो उस गोष्ठी में उपस्थित हो या उस गोष्ठी में मंच पर आए जिसमें कोई एक वक्ता कश्मीर में जनमत संग्रह करवाए जाने के पक्ष में बोले।
- एक टेलीविजन समाचार चैनल, जो उत्तर-पूर्व में सेना की ज्यादतियों के विरोध में देश के किसी भी भाग में हो रहे प्रदर्शन को चित्रित करे।
- टेलीविजन का एक बातचीत का कार्यक्रम, जिसमें अशांत सीमांत क्षेत्रों के द्वन्द्वों पर विचार विमर्श के दौरान एक ऐसा मत व्यक्त होने दिया जाए जिसमें अलगाववादी आंदोलन के साथ सहानुभूति प्रकट की गई हो।
- एक व्यक्ति जो यह 'भविष्यवाणी' करे कि किसी विशिष्ट राजनीतिक दल की किन्हीं अप्रिय नीतियों के कारण उसके नेताओं पर हमले हो सकते हैं।
- एक यात्री, जिसकी उंगलियों के निशान उस बस से मिले हों जिसमें बम विस्फोट हुआ था।

अगर आप किसी कारण से सत्ताधारियों को नाराज कर दें और ऊपर दी गई किसी भी श्रेणी में आते हों तो आपको इस नए कानून के तहत गिरफ्तार किया जा सकता है!

(पी.यू.डी.आर. बुकलेट से साभार)

मालिकों के आतंकराज से मजदूरों में आक्रोश

(बिगुल संवाददाता)

गजरौला (ज्योतिबा फुले नगर), 8 जून। स्थानीय ए.एस.पी. कारखाने में अपने त्रिवर्षीय वेतन समझौते के लिये संघर्षरत मजदूरों में आतंक पैदा करने के लिए कारखाना प्रबन्धक द्वारा बुलाये गये लगभग पचास बंदूकधारियों ने कारखाने के भीतर मजदूर प्रतिनिधियों को डराने-धमकाने का प्रयास किया।

हुआ यह कि स्थानीय एक अन्य माफिया कारखानेदार ने दिन में एकदम फिल्मी अन्दाज में, अपने पचास बंदूकधारियों के साथ कारखाने में प्रवेश किया और प्रबन्धकों के सामने यूनियन प्रतिनिधियों को डराने-धमकाने का काम करने लगा। उसने कहा - "यह गजरौला है, यहां किसी कारखाने में यूनियन बनने नहीं दी है।" "हटाओ, झंडा उतारो"। "अभी लिखो कि हम प्रोडक्शन बढ़ा रहे हैं, फिर वेतन समझौते की बात होगी"। वगैरह-वगैरह।

इस आतंकी कार्रवाई का यूनियन प्रतिनिधियों और कारखाने में मौजूद मजदूरों ने संयम और बहादुरी से सामना किया। परिणामत:, 15 दिन बाद पुन: आने की धमकी देकर गुण्डों का यह लावलश्कर वापस लौट गया।

गजरौला एक ऐसा औद्योगिक क्षेत्र है, जहां छोटे-बड़े कारखानों का जाला बिछा है। लेकिन यहां मालिकों के दमनात्मक रवैये के कारण ज्यादातर कारखानों में या तो यूनियन है ही नहीं या है भी तो लगभग पंगु ही हैं। एकमात्र ए.एस.पी. ही ऐसा कारखाना है जहां पर एक जुझारू यूनियन है।

ए.एस.पी. में घटी यह घटना कोई अपवाद नहीं है। इस क्षेत्र में ऐसे ही, मजदूर, मालिकों के गीदड़-भभकी को सुनते और सहते रहते हैं। वैसे भी, मजदूर विरोधी नयी नीतियों के कारण पूरे देश में कारखानेदारों के तेवर तीखे हुए हैं और निरंकुशता पहले से काफी बढ़ी है।

इन घटनाओं से मजदूरों में आक्रोश बढ़ता जा रहा है। निश्चित ही यह एक विस्फोट का रूप ले लेगा।

स्वत्वाधिकारी डा. दूधनाथ द्वारा 69, बाबा का पुरवा, निशातगंज, लखनऊ से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा वाणी ग्राफिक्स, अलीगंज, लखनऊ से मुद्रित। कम्पोजिंग : कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फाउण्डेशन, लखनऊ।
संपादक : डा. दूधनाथ। सम्पादकीय पता : द्वारा ओ.पी. सिन्हा, 69, बाबा का पुरवा, पेपर मिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006, सम्पादकीय उपकार्यालय : जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, मऊ।